दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९४ तंत्री-जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २४ अंक नं० ७

मनुष्यभव की महत्ता

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

मनुष्यभव की महत्ता को समझाते हुए पूज्य स्वामीजी कहते हैं कि—भाई, यह दुर्लभ मनुष्यभव पाकर तू अपने चैतन्यपद में आजा। बाह्य में सुख मानकर अनंत काल से परिभ्रमण कर रहा है, उसके बदले अंतर में अपने चैतन्यपद को देख... जागृत होकर अपने चैतन्यपद को संभाल। तेरा यह पद महा आनंदमय है, परंतु अपने इस स्वपद में तू कभी आया ही नहीं। अब, यह महामूल्यवान मनुष्यभव पाकर आत्मा के स्वरूप का विचार करके निजपद की प्राप्ति कर... इसमें मनुष्यभव की सफलता है।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

नवम्बर १९६८ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (२८३) एक अंक २५ पैसा [कार्तिक सं० २४९४

सोनगढ़ (सुवर्णपुरी) समाचार—तारीख १०-११-६८, परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुखशांति में विराजमान हैं। श्री समयसारजी तथा प्रवचनसारजी शास्त्र पर प्रवचन हो रहे हैं, अष्टाह्निका पर्व प्रतिवर्ष की भाँति आनंदपूर्वक मनाया गया।

निवेदन

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचन सुनने एवं धार्मिक-शिक्षण शिविर में अभ्यास करने के लिये अनेक हिन्दी भाषी मुमुक्षु भाई-बहिन सोनगढ़ आते रहते हैं।

हिन्दी भाषी मुमुक्षुओं के लिये जो धर्मशाला बनायी गई थी, वह अब काफी छोटी पड़ने लगी है। इसलिये ट्रस्ट की वार्षिक मीटिंग में एक योजना बनायी गई है। जिसमें वर्तमान धर्मशाला पर एक मंजिल और बनाने का विचार है। जो महानुभाव ४०००) चार हजार रुपये दान देंगे, उनके नाम का एक कमरा बनवाकर उसमें दाता के नाम की तख्ती लगायी जायेगी। एक कमरे के लिये दो व्यक्ति मिलकर भी दान दे सकते हैं तथा छोटी रकमें भी स्वीकार की जायेंगी और दाताओं के नाम बोर्ड पर लिखाये जायेंगे। योजना का प्रारंभ हो चुका है। पहले कमरे के लिये श्री नवनीतभाई चुनीलाल जवेरी बम्बई (प्रमुख-श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़) ने ४०००) चार हजार रुपये की घोषणा की है।

— श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

नवम्बर : १९६८ ☆ कार्तिक, वीर नि०सं० २४९४, वर्ष २४ वाँ ☆ अंक : ७

आत्मा की महत्ता

आत्मा और जड़ सभी पदार्थ अपनी स्वरूपसत्ता सहित अनादि-अनंत हैं; और प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय अपनी अवस्था का भावान्तर होता ही रहता है, वह उसकी स्वभावशक्ति द्वारा ही होता है। जड़ में ज्ञान नहीं है, किंतु प्रतिसमय उसकी अवस्था पलटती ही है—ऐसी उसके स्वभाव की शक्ति है, जीव के कारण उसका कार्य हो—ऐसा कभी नहीं होता। अज्ञानी स्वतंत्र स्व-पर की भिन्नता को भूलकर पर के कार्य मैं कर सकता हूँ—ऐसा अभिमान करता है। किंतु भाई! उसमें तेरी महत्ता नहीं है, तू तो नित्य ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभाव की महानता, पर की पृथक्ता, विभाव की विपरीतता जानकर त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानस्वरूप को लक्ष में तो ले। पर के कार्यों से तेरी महत्ता नहीं है, किंतु पूर्ण ज्ञानघन चैतन्यस्वरूप से तेरी महत्ता है। उस महत्ता को लक्ष में न लेकर अपने को पराधीन, तुच्छ मानकर तू संसार में भटका। अब अपने चैतन्य की प्रभुता को जान और पर के कर्तृत्व का अभिमान छोड़ तो तेरे भवभ्रमण का अन्त आये।

आत्म-प्रकाश

[पूज्य स्वामीजी को अत्यंत प्रिय और आत्म-अनुभव की प्रेरणादायक ऐसी ४७ शक्तियों पर विशिष्ट प्रवचन]

इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में एक प्रकाशशक्ति है, उस शक्ति के बल से आत्मा पर की सहायता बिना—राग बिना स्वयं अपने को स्पष्ट प्रत्यक्ष प्रकाशित करता है और स्वानुभव करता है। उस प्रकाशशक्ति की अचिंत्य महिमा है।

प्रवचन में जिस समय जो शक्ति आती है, तब उसके गीत गाये जाते हैं। यों तो प्रत्येक शक्ति संपूर्ण आत्मा को प्रसिद्ध करनेवाली है, प्रत्येक शक्ति अपने पूर्ण सामर्थ्य से भरी हुई और विकार के अभावरूप है। एक शक्ति को भिन्न करके उसका आश्रय नहीं किया जा सकता। शक्ति और शक्तिमान भिन्न नहीं हैं, गुण और गुणी भिन्न नहीं हैं, इसलिये द्रव्य की शक्ति का या गुण का स्वरूप पहिचानने पर अनंत धर्मसंपन्न संपूर्ण द्रव्य पहिचानने में आ जाता है, और उसकी प्रतीति द्वारा सम्यग्दर्शन होता है; इसमें कहीं बीच में राग का या निमित्त का अवलंबन नहीं है। उसके अवलंबन बिना आत्मा स्वयं ही अपने को स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रकाशित करता है—ऐसा उसका प्रकाशस्वभाव है।

इसमें दो बातें आयीं—एक तो स्वानुभव में आत्मा स्वयं अपने को स्पष्ट प्रकाशित करता है, और दूसरे वह स्वानुभव स्वयं प्रकाशमान है, उसमें आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का हाथ नहीं है। ऐसे स्वसंवेदन की शक्तिवाला आत्मा है।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा जानने में नहीं आ सकता ?

तो यहाँ कहते हैं कि भाई, आत्मा स्वयं अपने को स्वानुभव में प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वभाव ही है, और उसमें किसी अन्य की आवश्यकता नहीं पड़ती-ऐसा स्वयं प्रकाशमान स्वभाव है। दीपक स्वयं ही प्रकाशित कर रहा है कि मैं दीपक हूँ, दीपक को देखने के लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्यप्रकाशमय दीपक स्वयं ही अपने को स्वसंवेदन में प्रकाशित कर रहा है, ज्ञान स्वयं ही अपने को प्रकाशित

कर रहा है कि मैं ज्ञान हूँ, इसप्रकार आत्मा स्वयं प्रकाशमान है, उसे प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। राग की या इन्द्रियों की तो बात ही कहाँ रही, वे तो अंधकाररूप हैं, चैतन्यप्रकाश में उनका अभाव है।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा स्वयं अपने को नहीं जानता। तब तो भाई, आत्मा स्वयं प्रकाशमान न रहा! यहाँ तो भगवान कहते हैं कि आत्मा स्वयं प्रकाशमान है; और अपने ज्ञान को अंतर्मुख करने से स्पष्ट स्वसंवेदन होता है कि अपना आत्मा मेरे वेदन में-प्रतीति में आ गया। आत्मा उपयोगस्वरूप है; उसके उपयोग में उपयोग ही है, उपयोग में रागादि नहीं हैं—इसप्रकार धर्मी जीव भेदज्ञान द्वारा स्वयं अपने को स्पष्ट अनुभवता है।

हाँ, इतना तो सच है कि राग द्वारा अथवा इन्द्रियों की ओर के ज्ञान द्वारा आत्मा कभी भी अनुभव में नहीं आ सकता, परंतु राग से और इन्द्रियों से रहित ऐसे अंतर्मुख उपयोग द्वारा आत्मा स्वयं अपना साक्षात् अनुभव करता है, और उस अनुभव में परम आनंद होता है। ऐसा साक्षात् अनुभव करना, वह प्रकाशशक्ति का कार्य है।

रागादि आस्रव में ऐसी शक्ति नहीं कि स्वयं अपने को प्रकाशित करे; ज्ञान में ही ऐसी शक्ति है कि स्वयं अपने को प्रकाशित करे। राग को मालूम नहीं कि मैं राग हूँ, उसे प्रकाशित करनेवाला तो ज्ञान है। ज्ञान को मालूम है कि मैं ज्ञान हूँ और यह राग है; इसप्रकार स्व-पर दोनों को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान ही है।

श्रीगुरु के उपदेश से आत्मा का स्वरूप समझकर जो रत्नत्रयरूप परिणमन करके 'आत्माराम' हुआ, उसको स्वयं के स्वरूप का संचेतन कैसा होता है-वह बताने के लिये ३८वीं गाथा में कहते हैं कि—मैं चिन्मात्रज्योति आत्मा वास्तव में आत्मप्रत्यक्ष हूँ; अपने आत्मा के स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से मैं अपना अनुभव करता हूँ। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को भी ऐसा स्वसंवेदन होता है। अहा, इस स्वसंवेदनज्ञान की अपार महिमा है, संपूर्ण गुणों का रस स्वसंवेदन में समा जाता है; स्वसंवेदन द्वारा मोक्ष के द्वार खुल जाते हैं। प्रारंभ में—मंगलाचरण में ही 'स्वानुभूत्या चकासते' ऐसा कहकर शुद्ध आत्मा स्वानुभूति द्वारा प्रकाशित होता है अर्थात् अनुभव में आता है, ऐसा बताया था। अहा, प्रकाशशक्ति में भी यही कहते हैं कि आत्मा स्वयं प्रकाशमान है, आत्मा के स्वसंवेदन-स्वानुभव में अन्य किसी का अवलंबन नहीं है, वह स्वयं अपने ही कारण अपने को प्रकाशित करता है। अहा, आत्मा का प्रकाशस्वभाव तो एकदम स्पष्ट

स्वसंवेदनरूप कार्य बतलाता है; उसमें थोड़ा-सा भी परोक्षपना रहे, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं अपने को तथा पर को जाने, उसमें उसे राग का, निमित्त का या अन्य किसी का अवलंबन लेना पड़े, ऐसा उसका स्वभाव नहीं हूँ; किसी का अवलंबन लिये बिना स्पष्ट-प्रत्यक्षरूप से प्रकाशित हो-ऐसा उसका प्रकाश स्वभाव है। स्वयं अपने से अपने को प्रकाशित करनेवाला है। अपनी स्वानुभूति से ही अपने को प्रकाशित कर रहा है, उसमें अन्य किसी का अवलंबन नहीं है।—इसप्रकार स्वयंप्रकाशीपना वह आत्मा का वैभव है—आत्मा की सच्ची संपदा है। प्रारंभ में आचार्य भगवान ने (पाँचवीं गाथा में) कहा था कि सुंदर आनंद की मुद्रावाला जो प्रचुर स्वसंवेदन, उसके द्वारा मेरा आत्मवैभव द्वारा मैं इस समयसार में एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा को दिखलाऊँगा, तुम अपने स्वानुभवप्रत्यक्ष द्वारा उसे प्रमाण करना। देखो, साधक के श्रुतज्ञान में भी आत्मा को स्वानुभवप्रत्यक्ष करने की शक्ति है। स्वयं प्रकाशमान और स्पष्ट ऐसे आत्मा का स्वसंवेदन श्रुतज्ञान द्वारा हो सकता है, और ऐसा स्वसंवेदन करे, तभी सच्चा आत्मज्ञान और धर्म होता है। इस स्वसंवेदन में अतीन्द्रिय आनंद झरता है, अनंत गुण की निर्मलता इसमें परिणमित होती है।

आत्मा को किसप्रकार जानना, उसकी यह बात है। अहा, तू स्वयं कैसा और कितना है? उसे जाने बिना तुझे अपनी महिमा कहाँ से होगी? और स्वसन्मुखता बिना सम्यक् दर्शन कहाँ से होगा? सम्यग्दर्शन बिना सुख का मार्ग कहाँ से हाथ आयेगा? इसलिये हे भाई! तेरा जैसा स्वरूप है, वैसा लक्ष में लेकर उसकी महिमा कर! उसकी महिमा जागृत करते ही पर की महिमा उड़ जावेगी, अर्थात् स्व-पर का भेदज्ञान होकर स्वसन्मुखता होगी; स्वसन्मुख स्वसंवेदन में तेरा आत्मा स्वयं प्रकाशमान होगा अर्थात् आनंदसहित अनुभव में आयेगा। सम्यग्दर्शनादि प्रगट करने की और सुखी होने की यह विधि है। सुख का मार्ग अंतर में है, बाह्य में कुछ नहीं है।

मोक्ष की स्थिति अनंत काल की होती है, परंतु बंध की स्थिति अनंत काल की नहीं होती। कोई भी बंधन असंख्यात वर्ष से अधिक की स्थिति का नहीं हो सकता... अमुक काल में छूट ही जाता है, क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप नहीं है।

प्र...व...च...न...सा...र

[वीतराग चारित्र के फलरूप जो अतीन्द्रिय ज्ञान एवं
अतीन्द्रिय सुख.... उसकी दिव्य महिमा की मंगल-वीणा]

आचार्यदेव विदेहक्षेत्र में गये... अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुखरूप परिणमित तीर्थंकरदेव को तथा कितने ही केवली भगवंतों को प्रत्यक्ष देखा; शुद्धोपयोगरूप परिणमन करके केवलज्ञान की साधना करते हुए वीतरागी संतों के समूह देखे; अपने आत्मा में भी ऐसे ही शुद्धोपयोग की धारा बह रही थी और ॐकारध्वनिरूप जिन-प्रवचन में अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख का साक्षात् श्रवण किया... उन सबका स्रोत आचार्यदेव ने इस प्रवचनसार में बहाया और उसके द्वारा भरतक्षेत्र के जीवों को अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय आनंद की भेंट दी। आज पूज्य श्री कानजीस्वामी कुन्दकुन्दाचार्य की वह महान भेंट हमें दे रहे हैं.... अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंदरस के घूँट पिला रही हैं... लीजिये, आप भी उस चैतन्यरस का पान कीजिये।

[प्रवचन प्रारंभ : वीर सं. २४९४ भाद्र शुक्ला ११]

पंच परमेष्ठी को प्रणमनपूर्वक प्रवचनसार का प्रारंभ होता है।

भगवान की दिव्यवाणीरूप जो प्रवचन, उसका सार क्या?—वह इस प्रवचन में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने बतलाया है। उन्होंने विदेहक्षेत्र में जाकर सीमंधर परमात्मा की साक्षात् वाणी का श्रवण किया था; उसका सार इसमें गूँथा है। ऐसा यह प्रवचनसार आज प्रारंभ होता है।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका की रचना की है, जो दीपक की भाँति तत्त्वों का स्वरूप प्रकाशित करती है। वे टीका के मंगलाचरण में ज्ञानानंदस्वरूप उत्कृष्ट आत्मा को नमस्कार करते हैं। वह आत्मा कैसा है? कि स्वानुभवप्रसिद्ध है।—ऐसे स्वानुभवप्रसिद्ध परमात्मा को पहिचानकर उसे जो नमस्कार करता है, उसे अपने में भी अपना आत्मा स्वानुभवप्रसिद्ध होता है।

समस्त आत्मा उत्कृष्ट ज्ञान-आनंदस्वरूप है; उसे जानकर स्वानुभव करने से वह

पर्याय में प्रकाशित होता है। अहो, जिनके पूर्ण ज्ञान-आनंद प्रगट हो गये हैं, ऐसे उत्कृष्ट सिद्धपरमात्मा, वे सर्व परमागम के साररूप हैं। जिनवाणीरूप प्रवचन का सार यह है कि स्वानुभव द्वारा आत्मप्रसिद्धि करके सिद्धदशा प्रगट करना।

पंच परमेष्ठी मंगलस्वरूप हैं। शास्त्रकार और टीकाकार दोनों आचार्य भगवंत स्वयं भी परमेष्ठीस्वरूप हैं; परंतु अभी पूर्णदशारूप सर्वज्ञपद प्रगट नहीं हुआ, इसलिये पूर्ण दशारूप परमात्मा को नमस्कार करते हैं।

* * *

दूसरे श्लोक में आचार्यदेव ने अनेकांतमय ज्ञान की स्तुति की है। अनेकांतमय तेज-प्रकाश मोह-अंधकार को नष्ट करता है और स्व-पर पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करता है। ऐसा आनंदमय अनेकांत ज्ञान-उसे नमस्कार हो। भगवान के कहे हुए शास्त्र भी अनेकांतमय हैं, वे भी जयवंत हैं और अनेकांतस्वरूप आत्मा को प्रकाशित करनेवाला भावश्रुतज्ञानरूप अनेकांतप्रकाश, वह भी साधकपने में सदा जयवंत वर्तता है, इसलिये उस स्वसन्मुखतारूप भावश्रुतज्ञान द्वारा बीच में भंग पड़े बिना केवलज्ञान को साधेंगे। अनेकांतमय ज्ञानप्रकाश जगत के स्वरूप को प्रकाशित करता है और मोह-अंधकार को नष्ट करता है। उसे सदा जयवंत कहकर स्तुति की है।

तत्पश्चात् तीसरे श्लोक में ऐसा कहा कि मैं इस परमागम की टीका करता हूँ।—किसके लिये करता हूँ? कि परम आनंदरूपी सुधारस के पिपासु भव्य जीवों के हित के लिये यह टीका करता हूँ। जिन्हें चैतन्य के आनंद की ही पिपासा है, जिन्हें पुण्य की या स्वर्गादि वैभव की अभिलाषा नहीं है, जिन्हें चैतन्य के अतीन्द्रिय परमानंद की ही अभिलाषा है—ऐसे मुमुक्षु जीवों के हितार्थ यह टीका रची जा रही है। अहो, जिनके अंतर में परमानंद की तृषा है, ऐसे जीवों के लिये संतों ने यह आनंद की प्याऊ खोली है। इस टीका द्वारा आनंदरस की प्याऊ बनायी है... जिसे आनंदरस पीना हो, उसके लिये यह प्याऊ है। अहो, जीवो! इस शास्त्र में कहे हुए अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय सुख के भाव समझने से तुम्हें परम आनंद की प्राप्ति होगी... और उस आनंद द्वारा तुम तृप्त हो जाओगे। परम आनंद का अनुभव प्रगट हो, यही इस शास्त्र का हेतु है।

हे भाई, तू चैतन्य के आनंद का पिपासु होकर श्रवण करना; राग की अभिलाषा मत

करना। 'काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग'—इसप्रकार आत्मानंद का पिपासु होकर जो जीव इस शास्त्र का श्रवण करेगा, उसे अवश्य परमानंद की प्राप्ति होगी।

* * *

अब पाँच गाथाएँ प्रारंभ करने से पूर्व अमृतचंद्राचार्यदेव उपोद्घात में शास्त्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की पहिचान एवं महिमा प्रगट करते हैं—देखो, कुन्दकुन्दस्वामी तो उनसे एक हजार वर्ष पहले हो चुके हैं, तथापि एक हजार वर्ष पश्चात् भी अमृतचंद्राचार्य ने उनकी अंतरंगदशा को जान लिया है। वे कहते हैं कि—अहो! संसारसमुद्र का किनारा उनको अत्यंत निकट है, उन्हें सातिशय ज्ञानज्योति प्रगट हुई है। देखो, एक भावलिंगी संत की दशा को दूसरे भावलिंगी संत जान लेते हैं; अपने ज्ञान की विशेष निर्मलता को भी पहिचान लेते हैं। आत्मा की ज्ञानज्योति राग से बिल्कुल भिन्न है। ऐसी ज्ञानज्योति स्वयं को भी प्रगट हुई है और एक हजार वर्ष पूर्व कुन्दकुन्दाचार्यदेव को भी प्रगट हुई थी—ऐसा उनकी वाणी पर से जान लिया है। समस्त एकांतवाद की विद्या का अभिनिवेश जिनके छूट गया है, इसलिये अज्ञान का व्यय हुआ है, और काहे की उत्पत्ति हुई है?—कि पारमेश्वरी अनेकांतविद्या जिनके प्रगट हुई है; जो चारित्रदशा प्रगट करके अत्यंत मध्यस्थ हुए हैं, सर्व पुरुषार्थों में सारभूत और आत्मा को उत्कृष्ट हितरूप ऐसी मोक्षलक्ष्मी को ही जिन्होंने उपादेय किया है; बीच में सराग चारित्र के फल में स्वर्गवैभव आयेगा अवश्य परंतु उसे तो अनिष्ट फल जानकर हेय माना है, शुद्धोपयोग को तथा उसके फलरूप मोक्ष को ही उपादेयरूप से स्वीकार किया है। मोक्ष अर्थात् अतीन्द्रिय पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण सुख—वही आत्मा को परम हितरूप है... और ऐसी मोक्षदशा पंच परमेष्ठी भगवंतों के प्रसाद से उत्पन्न होती है। पंच परमेष्ठी का उपदेश ग्रहण करके स्वयं अपने में मोक्षमार्ग प्रगट किया, तब पंच परमेष्ठी भगवंतों की प्रसन्नता हुई—ऐसा भक्ति से कहा जाता है, क्योंकि मोक्षमार्ग प्रगट करने में पंच परमेष्ठी ही निमित्त होते हैं, विपरीत निमित्त नहीं होता।—इसप्रकार यथार्थ निमित्त का ज्ञान कराने के लिये, उनके प्रति परम भक्ति के कारण ऐसा कहा जाता है कि उनके प्रसाद से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।—ऐसी मोक्षलक्ष्मी को ही आचार्यदेव ने उपादेयरूप माना है।

वीतरागभावरूप जो मोक्षपुरुषार्थ, वही साररूप है; शुभराग का पुरुषार्थ साररूप नहीं है, उपादेय नहीं है; वीतरागभाव के फलरूप मोक्षलक्ष्मी ही उपादेय है। शुभराग के फल में स्वर्ग का वैभव प्राप्त हो, वहाँ भी जीव आकुलता से दुःखी ही है—ऐसा आगे बतलायेंगे।

जिसने ऐसी विवेकज्योति प्रगट करके मोक्ष का पुरुषार्थ किया, उस पर पंच परमेष्ठी भगवंतों की कृपा हुई, परमेष्ठी भगवंत उस पर प्रसन्न हुए... अर्थात् साधकदशा में जीव को ऐसे आत्मस्वरूप प्राप्त पंच परमेष्ठी ही निमित्तरूप होते हैं, इससे विरुद्ध निमित्त नहीं होता। इसलिये यथार्थ निमित्त की प्रसिद्धि करने के लिये कहा कि मोक्षलक्ष्मी की उत्पत्ति भगवंत पंच परमेष्ठी के प्रसाद से होती है। वीतरागभावरूप परिणमित जीव ही वीतरागी मोक्षमार्ग के निमित्त होते हैं।

समयसार की पाँचवीं गाथा में भी निज आत्मा के वैभव का वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—भगवान सर्वज्ञदेव से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त जो परापर गुरु—उन्होंने अनुग्रहपूर्वक हमें जो शुद्धात्मा का उपदेश दिया, उसके द्वारा हमें निजवैभव की प्राप्ति हुई है। स्वयं को जो निजवैभव प्रगट हुआ, उसमें निमित्त कौन है, उसकी प्रसिद्धि करके विनय की है।

जिसप्रकार गतिक्रिया में धर्मास्तिकाय ही निमित्त होता है, उसीप्रकार वीतरागी मोक्षमार्ग में गमन करने में वीतरागी पंच परमेष्ठी भगवंत ही निमित्त होते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि पंच परमेष्ठी भगवंतों को नमस्कार करके उनके प्रसाद से मैंने साक्षात् मोक्षमार्ग अंगीकार किया है। मैं मोक्षमार्ग का आश्रय करता हूँ अर्थात् शुद्ध आत्मा में एकाग्र होने से जिसे मोक्षमार्ग पर्याय प्रगट हो जाती है, उसने मोक्षमार्ग का आश्रय किया, ऐसा कहा जाता है।

ऐसी दशावान आचार्यदेव इस प्रवचनसार के प्रारंभ में तीर्थनायक महावीर भगवान आदि पंच परमेष्ठी भगवंतों को उत्कृष्ट भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं—मानों पंच परमेष्ठी भगवंत अपने सन्मुख साक्षात् विराजमान हों—इसप्रकार उन्हें नमस्कार करते हैं और वीतराग शुद्धोपयोगरूप चारित्र अंगीकार करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

* * *

[गाथा-१ से ५]

पंच परमेष्ठी को वंदन करते हुए उन पंच परमेष्ठी का स्वरूप तो जानते हैं और साथ ही अपना परमार्थ स्वरूप कैसा है, वह भी जानते हैं। नमस्कार करनेवाला मैं कैसा हूँ?—कि स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष ज्ञान-दर्शनस्वरूप हूँ। देह की क्रियारूप मैं नहीं हूँ, वंदन के राग का विकल्प उठा, इस विकल्पस्वरूप मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानदर्शनस्वरूप हूँ और अपने ऐसे आत्मा को मैंने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष किया है।

ऐसा स्वसंवेदनप्रत्यक्ष मैं, प्रथम तो श्री वर्द्धमानदेव को नमस्कार करता हूँ, क्योंकि वे

प्रवर्तमान तीर्थ के नायक हैं; तथा कैसे हैं भगवान वर्द्धमानदेव ? सुरेन्द्रों, नरेन्द्रों तथा असुरेन्द्रों से वंदित हैं, इसलिये तीन लोक के एक सर्वोत्कृष्ट गुरु हैं। ऊर्ध्वलोक के सुरेन्द्र, मध्यलोक के नरेन्द्र तथा अधोलोक के भवनवासी आदि असुरेन्द्र। इसप्रकार तीन लोक के जीवों से भगवान वंदनीय हैं। कोई मिथ्यादृष्टि जीव न मानें, उनकी यहाँ गिनती नहीं है, क्योंकि तीन लोक के इन्द्र आदि मुख्य जीव भगवान की वंदना करते हैं, इसलिये तीनों लोक से भगवान वंदनीय हैं।

तथा भगवान ने घातिकर्मों को धो डाला है, इसलिये सर्वज्ञता प्रगट हुई है; अनंत शक्तिरूप परमेश्वरता प्रगट हुई है; भगवान को प्रगट हुई अनंत शक्तिरूप परमेश्वरता जगत पर अनुग्रह करने में समर्थ है। भगवान की वाणी की बात यहाँ नहीं ली है परंतु भगवान के आत्मा की बात ली है। भगवान के आत्मा को प्रगट हुई अनंत शक्तिरूप परमेश्वरता जगत पर उपकार करने में समर्थ है, उस परमेश्वरता को जो समझे, उसे वैसी परमेश्वरता प्रगट होती है और उसमें भगवान का उपकार है। भगवान तो तीन लोक के जीवों पर अनुग्रह करने में समर्थ हैं, फिर कोई सामनेवाला जीव न समझे तो वह उसका दोष है। यहाँ तो कहते हैं कि अहो, हमारे ऊपर भगवान का महान अनुग्रह है; हमने स्वसंवेदन से आत्मा को प्रत्यक्ष किया है और भगवान ने वैसा करने को कहा था, इसलिये भगवान का हमारे ऊपर परम अनुग्रह हुआ। ऐसा अनुग्रह करनेवाले भगवान को नमस्कार करता हूँ।

भगवान स्वयं तीर्थस्वरूप होने से योगियों को भव से तारने में समर्थ हैं। भगवान स्वयं भव से पार हुए हैं और जो योगी निजस्वरूप में उपयोग को लगाकर भव से पार हो रहे हैं, उनको तारने में भगवान समर्थ हैं। स्तुतिकार कहते हैं कि—हे भगवान! तरने का उपाय तो हम करें और तुम हमारे तारनहार कहलाओ—उसमें क्या आश्चर्य! परंतु हमारे पुरुषार्थ किये बिना तुम हमें तार दो, तब सच्चे तारनहार कहलाओगे! हम पुरुषार्थ करें और तरें, उसमें क्या आश्चर्य!—अर्थात् भगवान को तारनहार कहना, वह तो विनय-निमित्त का कथन है। अपने स्वरूप में उपयोग को लगाये उसके लिये भगवान तारनहार हैं परंतु जो अपना उपयोग अपने स्वरूप में नहीं लगाता, वह स्वयं नहीं तरता और भगवान उसे निमित्तरूप से भी तारनहार नहीं कहे जाते। वह तो भगवान को जानता ही नहीं। यहाँ तो भगवान की पहिचान भी साथ आ जाती है। सर्वप्रथम ही 'स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ऐसा मैं'—इसप्रकार अपने आत्मा को पंच परमेष्ठी की जाति में सम्मिलित करके प्रारंभ किया है।

पुनश्च, भगवान कैसे हैं—कि धर्मकर्ता हैं; धर्म अर्थात् शुद्धस्वरूप परिणति—उसके कर्ता हैं। अपने आत्मा की शुद्धपरिणति के कर्ता हैं और अन्य जीवों को भी वैसी शुद्धपरिणतिरूप धर्म का उपदेश दिया है। वे भगवान परम भट्टारक हैं; केवलज्ञानरूपी सूर्य का तेज जिनके प्रगट हो गया है, उन केवली भगवान को भट्टारक कहा जाता है तथा भगवान वर्द्धमान महादेवाधिदेव हैं, परमेश्वर हैं, परमपूज्य हैं और उनका नामग्रहण भी अच्छा है। 'वर्द्धमान' ऐसा विशेष नाम लेकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने नमस्कार किया है। अहो, भगवान का नामग्रहण भी अच्छा है, परंतु वह अंतर में भावभासनपूर्वक होना चाहिये। इसप्रकार भगवान को पहिचान कर, वर्तमान तीर्थ के नायक श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूँ।

तत्पश्चात् भूतकाल में हुए सर्व तीर्थंकरों को तथा सिद्धों को ज्ञान में लेकर नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं तीर्थंकर और सिद्ध ?—कि शुद्ध दर्शनज्ञानस्वभाव को प्राप्त हैं। देखो, स्वयं भी दर्शन-ज्ञानभावरूप हैं, ऐसा स्वसंवेदन किया है और जिन्हें नमस्कार करता हूँ, वे भी शुद्ध दर्शनज्ञानस्वरूप हैं—इसप्रकार पहिचान करके नमस्कार किया है। तथा परम शुद्ध उपयोग भूमिका जिन्होंने प्राप्त की है, ऐसे आचार्य-उपाध्याय-साधु सर्व श्रमणों को भी नमस्कार करता हूँ। वे मुनिवर ज्ञानाचार-दर्शनाचार-चारित्राचार आदि पंचाचारयुक्त हैं और उन्होंने परम शुद्ध उपयोग प्रगट किया है। देखो, मोक्षसाधक जैनमुनि कैसे होते हैं, वह भी बतलाया। मुनि उसे कहा जाता है जिसने शुद्ध-उपयोग-भूमिका प्राप्त की हो।—इसप्रकार पंच परमेष्ठी को नमस्कार करनेवाले का इतना दायित्व है कि शुद्धोपयोग को तथा राग को भिन्न-भिन्न जाने। जो राग का आदर करेगा, वह पंच परमेष्ठी को सच्चा नमस्कार नहीं कर सकता। यहाँ तो शास्त्रकार आचार्य स्वयं शुद्धोपयोगरूप परिणमित हैं; स्वयं पंच परमेष्ठी की पंक्ति में बैठकर पंच परमेष्ठी भगवंतों को उत्कृष्ट नमस्कार किया है।

फिर विशेष कहते हैं कि—पुनः-पुनः इन्हीं पंच परमेष्ठी को-मानों वे मेरे सन्मुख साक्षात् विराजमान हों, इसप्रकार परम भक्तिसहित चिंतवन करके—सर्व को एकसाथ तथा प्रत्येक को नमस्कार करता हूँ, उनकी आराधना करता हूँ। जिसप्रकार विदेहक्षेत्र में सीमंधरादि तीर्थंकर साक्षात् विराजमान हैं, उसीप्रकार सर्व पंच परमेष्ठी भगवंतों को अपने ज्ञान में साक्षात्रूप करके उन्हें अभेद नमस्कार करता हूँ।

वंदन करनेवाला मैं कैसा हूँ? और वंदन करने योग्य पंच परमेष्ठी भगवान कैसे

हैं ?—इसप्रकार दोनों की पहिचानपूर्वक यह नमस्कार है।

जगत में सर्वज्ञ सदा होते ही हैं। अरिहंतरूप से तीर्थंकर सर्वज्ञदेव भी सदा विद्यमान होते ही हैं। भरतक्षेत्र में अवतरित तीर्थंकर का भले ही वर्तमान में अभाव है, परंतु विदेहक्षेत्र में साक्षात् तीर्थंकर विराजमान हैं और वे तीर्थंकर अपने ज्ञान में साक्षात् झलक रहे हैं; इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हमारे ज्ञान में तीर्थंकरों का सद्भाव है। जैसे सीमंधरादि तीर्थंकर भगवंत वर्तमान में विराज रहे हैं, वैसे ही पंच परमेष्ठी भगवान भी मानों वर्तमान मेरे सन्मुख ही विराजमान हों—ऐसी परमभक्ति के कारण उन्हें वर्तमान कालगोचर करके आराधता हूँ—उनका सन्मान करता हूँ। अपने मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर-मंडप में उन्हें बुलाता हूँ।

स्वयंवर-मंडप अर्थात् शुद्धोपयोग की-परमनिर्ग्रंथता की दीक्षा के उत्सव का आनंदप्रसंग; उसमें मंगलाचरणरूप से पंच परमेष्ठी भगवंतों को बुलाता हूँ। मोक्षलक्ष्मी को साधने के लिये जाते हुए पंच परमेष्ठी जैसे श्रेष्ठों को साथ रखा है, अब उस मोक्षप्राप्ति के बीच में विघ्न नहीं आयेगा। अहो, यह तो मोक्ष को साधने का आनंदमय प्रसंग है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप एकाग्रता प्रगट करने का यह उत्तम अवसर है; उसमें पंच परमेष्ठी भगवंतों को मैं सम्मानित करता हूँ... उन्हें परम भक्तिसहित नमस्कार करता हूँ। किसप्रकार ?—कि अपने आत्मा को स्वानुभवप्रत्यक्षरूप करके नमस्कार करता हूँ।

विकल्प और वाणी इन दोनों से भिन्न ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्मा है, उसे स्व-संवेदनप्रत्यक्ष किया है, विकल्प का और वाणी का कर्तृत्व ज्ञान में नहीं रहा है।—ऐसे अपने तथा पंच परमेष्ठी के आत्मा का स्वरूप जानकर नमस्कार किया है। नमस्कार का विकल्प उठा है, उससे भी अपने को भिन्न जानते हैं और अंतर में आत्मा की शुद्धता बढ़ती जाती है, उसका नाम भावनमस्कार है। ऐसा नमस्कार करके उन पंच परमेष्ठी भगवंतों के आश्रम को प्राप्त कर मैं सम्यग्दर्शन-ज्ञानसम्पन्न हुआ हूँ। देखो, अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ उसकी निःशंक प्रतीति होती है। ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही शुद्धोपयोगी चारित्रदशा होती है। मुनियों को भी शुद्धोपयोगरूप जो वीतरागचारित्र है, वही मोक्ष का कारण है; जितना शुभराग रह जाये, उतना पुण्यबंध का कारण हैं, वह मोक्ष का कारण नहीं है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्यबंध के कारणरूप ऐसे उस राग का उल्लंघन करके मैं वीतरागचारित्र को प्राप्त करता हूँ।

छठवें गुणस्थान में चारित्रदशा तो है, परंतु वहाँ जो शुभविकल्प का सद्भाव है, उतना कषायकण विद्यमान है, उसे भी छोड़कर शुद्धोपयोगरूप वीतरागचारित्र प्रगट करने की यह बात है। अहा, कुन्दकुन्दाचार्य जैसे संत कहते हैं कि पुण्य के कारणरूप ऐसा सरागचारित्र बीच में आ पड़ा है, तथापि उसे लाँघकर, मोक्ष के कारणरूप ऐसे वीतरागचारित्र को मैं प्राप्त करता हूँ। अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप एकाग्रता का मैं अवलंबन करता हूँ।—ऐसा साक्षात् मार्ग है।

शुभराग तो पुण्यबंध का कारण है, वह मोक्ष का कारण नहीं है; उसे तो आचार्यदेव ने कलंक और क्लेशरूप कहकर छोड़ने योग्य कहा है। और मोक्ष का कारण तो वीतरागचारित्र है, उसे प्राप्त करने योग्य कहा है। इससे जो विरुद्ध माने, वह 'प्रवचन' को अर्थात् जिनवाणी को नहीं समझा है; उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं होता।

पंच परमेष्ठी भगवंतों का आश्रम विशुद्ध ज्ञान-दर्शनप्रधान है, इसलिये उस आश्रम में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार पंच परमेष्ठी के आश्रम में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके पश्चात् राग के अभावरूप वीतरागचारित्रदशा को मैं प्रगट करता हूँ। देखो, प्रवचनसार के प्रारंभ से ही शुभराग को हेयरूप एवं वीतरागभाव को ही उपादेयरूप बतलाया है। वह शुभराग बीच में आयेगा परंतु वह मोक्ष का साधन नहीं है, इसलिये उसे हेयरूप जानना। राग को मोक्ष का कारण माने, उसके तो श्रद्धा-ज्ञान भी सच्चे नहीं हैं।

अहो, निर्ग्रंथ साधुदशारूप जो मोक्षमार्ग, उसमें प्रथम तो शुद्धात्मतत्त्व के श्रद्धा-ज्ञानरूप सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान होता है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक चैतन्यतत्त्व में एकाग्र होने से वीतरागचारित्र प्रगट होता है। ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग, वह वीतरागभावरूप है। बीच में छठवें गुणस्थान में शुभरागरूप कषायकण वर्तता है, वह तो बंध का कारण है, वह कहीं मोक्ष का साधन नहीं है।

यहाँ साक्षात् मोक्षमार्ग लेना है, इसलिये वीतरागचारित्र की बात ली। यों तो चौथे-पाँचवें आदि गुणस्थान में भी जो रागरहित भाव प्रगट हुआ है, वही धर्म है और जो राग है, वह धर्म नहीं है। जिसे पहले से ही इसप्रकार राग और धर्म की भिन्नतारूप विभाग करना न आये, तथा जो राग को धर्म माने, उसे तो धर्म का प्रारंभ भी नहीं होता; जहाँ श्रद्धा ही मिथ्या है, वहाँ चारित्र कैसा ?

अहो, यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर और पंच परमेष्ठी भगवंत जिस मार्ग पर गये, उस मार्ग पर चलने की बात है। भाई, यह तो वीतरागी परमेश्वरों का वीतरागमार्ग है। जगत्पूज्य ऐसा परमेष्ठीपद राग द्वारा प्रगट नहीं होता, वह तो वीतरागता द्वारा प्रगट होता है। ऐसी दशा को पहिचानकर उसी का आदर करने योग्य है।

मुनिदशा में सरागचारित्र और वीतरागचारित्र दोनों होते हैं, परंतु आचार्यदेव कहते हैं कि उनमें से सरागचारित्र को मैं अंगीकार नहीं करता, क्योंकि वह तो कषाययुक्त है, पुण्यबंध का कारण है; इसलिये उसे तो मैं लाँघ जाता हूँ; उसे छोड़कर मोक्ष के कारणरूप वीतरागचारित्र को ही मैं अंगीकार करता हूँ। ऐसी प्रतिज्ञा द्वारा तब उन्होंने साक्षात् मोक्षमार्ग को अंगीकार किया। देखो तो, एक हजार वर्ष पूर्व के मुनिराज को साक्षात् निर्विकल्पदशा हुई—उसका निर्णय हजार वर्ष बाद होनेवाले मुनिराज ने कर लिया! मुनियों की दशा अलौकिक होती है! ऐसा साक्षात् वीतराग मोक्षमार्ग इस काल भी होता है! यह सातवें गुणस्थान की बात है और इस काल भी भरतक्षेत्र के जीव को सातवें गुणस्थान की दशा प्रगट हो सकती है। ऐसी दशा कुन्दकुन्दाचार्यदेव को थी—ऐसा अमृतचंद्राचार्यदेव ने प्रसिद्ध किया है।

अहो, ऐसी मुनिदशा का एक-एक क्षण धन्य है... ऐसी वीतरागदशा में आत्मा झूलते होंगे—वे तो मानों चलते-फिरते सिद्ध हैं! मिथ्यादृष्टि को चलता-फिरता शव कहा है और मोक्षमार्गी मुनिराज तो चलते-फिरते सिद्ध हैं। मुनिदशा तो जगत्पूज्य परमेष्ठीपद है।

श्रीमद् राजचंद्र-वचनामृत

गत वर्ष कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन सौराष्ट्र के संत श्रीमद् राजचंद्र का जन्म शताब्दि-समारोह सौराष्ट्र, गुजरात तथा देश के अन्य भागों में भी मनाया गया था... यहाँ उन महापुरुष के कुछ वचनामृत दिये जा रहे हैं, जो जिज्ञासुओं को आत्मार्थ की प्रेरणा देंगे। *—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन*

- आत्मभावना भाने से जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है।
- सुयोजक कृत्य करना हो तो आज का दिन विलंब करने का नहीं है, क्योंकि आज जैसा मंगलदायक दूसरा दिन नहीं है।
- आत्मा पर सत्य का रंग चढ़ाये, वह सत्संग, और मोक्ष का मार्ग बतलाये वह मैत्री।
- वर्तन में बालक, सत्य में युवा और ज्ञान में वृद्ध बनो।
- 'धर्म' यह वस्तु अत्यन्त गुप्त रही है; वह बाह्य संशोधन से प्राप्त नहीं होती; वह अंतर-संशोधन से प्राप्त होती है; वह अंतर्संशोधन किन्हीं महाभाग्यवान सद्गुरु के अनुग्रह से प्राप्त होता है।
- एक भव के अल्प सुख के लिये अनंत भव का अनंत दुःख नहीं बढ़ाने का प्रयत्न सत्पुरुष करते हैं।
- उदय में आये कर्मों को भोगते हुए नये कर्मों का बंध न हो, उसके लिये आत्मा को सचेत रखना-यह सत्पुरुषों का महान बोध है।
- मोक्ष के मार्ग दो नहीं हैं। उस मार्ग में मतभेद नहीं है, असरलता नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, भेदाभेद नहीं हैं, मान्यामान्यता नहीं है। वह मार्ग सरल है, वह समाधिमार्ग है तथा वह स्थिर मार्ग है और स्वाभाविक शांतिस्वरूप है।
- **मैत्री** अर्थात् सर्व जगत में निर्बैरबुद्धि।

प्रमोद अर्थात् किसी भी आत्मा के गुण देखकर हर्ष मानना।

करुणा अर्थात् संसार ताप से दुखी आत्मा के दु:ख की अनुकम्पा प्राप्त करना।

उपेक्षा अर्थात् निस्पृहभाव से जगत के प्रतिबंध को भूलकर आत्महित में आना।

—यह भावनाएँ कल्याणमय और पात्रता प्रदान करनेवाली हैं।

- शास्त्र में मार्ग कहा है, मर्म नहीं कहा है। मर्म तो सत्पुरुष के अंतरात्मा में भरा है।
- परमात्मा को ध्याने से परमात्मा हुआ जाता है; परंतु वह ध्यान आत्मा सत्पुरुष के चरण कमल की विनयोपासना के बिना प्राप्त नहीं कर सकता।
- शुभाशुभ कर्म के उदय के समय हर्ष-शोक में न पड़कर इसे भोगना ही पड़ेगा... और यह वस्तु मेरी नहीं है-ऐसा मानकर समभाव की श्रेणी बढ़ाते रहना। पूर्वके अशुभकर्म उदय में आने पर उनका वेदन करते हुए यदि सोच करते हो तो अब यह भी ध्यान रखो कि नये परिणामों से वैसे कर्म तो नहीं बँध रहे हैं।
- आत्मा को पहिचानना हो तो आत्मा का परिचयी होना चाहिये।
- प्रशस्त पुरुष की भक्ति करो, उनका स्मरण करो, गुणचिन्तन करो।
- शरीर की जितनी चिन्ता रखता है, उतनी नहीं परंतु उससे अनंतगुनी चिंता आत्मा की रख, क्योंकि अनंत भवों को एक भव में टालना है।
- निरुपायता के आगे सहनशीलता ही सुखदायक है।
- उदासीनता, वह अध्यात्म की जननी है।
- जिसका हृदय शुद्ध है और जो संतों के बतलाये हुए मार्ग पर चलता है, उसे धन्य है।
- मोक्ष का मार्ग बाहर नहीं, परंतु आत्मा में है। मार्ग को जिसने प्राप्त किया हो, वह मार्ग की प्राप्ति करायेगा।
- निरंतर उदासीनता के क्रम का सेवन करना चाहिये; सत्पुरुष की भक्ति में लीन होना चाहिये; सत्पुरुषों के चरित्र का स्मरण करना चाहिये; सत्पुरुषों के लक्षण का चिंतन करना चाहिये।
- जो कुछ प्रिय-करनेयोग्य है, उसे जीव ने जाना नहीं है, और शेष कुछ प्रिय करने योग्य नहीं है। यह हमारा निश्चय है।

अनुभव की प्रेरणा

[समयसार कलश ३४ के प्रवचन से]

अरे जीवो ! यह चैतन्यतत्त्व अंतर में स्वसंवेदन द्वारा ज्ञानियों को अनुभवगम्य है, युक्ति से और आगम से भी वह सिद्ध होता है। हे भव्य ! हे आत्मा के शोधक ! अन्य व्यर्थ कोलाहल से तू विरक्त हो... और अंतर में ज्ञानस्वरूप आत्मा देह से भिन्न है, उसका अनुभवन करने के लिये लगातार छह महीने तक प्रयत्न कर... अंतरंग में भेदज्ञान का अभ्यास कर। ऐसा करने से तुझे अपने अंतर में ही भिन्न चैतन्यतत्त्व का अनुभव होगा। अरे जीव ! तू निश्चलरूप से अभ्यास कर तो छह महीने में तुझे अवश्य आत्मप्राप्ति हो जाये। छह महीने तक आत्मा की लगन में लगा रहे और उसमें भंग न पड़ने दे तो निर्मल अनुभूति हुए बिना न रहे। एक शर्त है कि दूसरा सब कोलाहल छोड़कर प्रयत्न करना। अरे, मेरा चैतन्यतत्त्व क्या है ?—इसप्रकार अंतर में कौतूहल करके, उसके सन्मुख होकर अभ्यास कर। छह महीने का समय तो अधिक से अधिक दिया है; किसी को अल्प काल में भी हो जाता है। परिणाम में ऐसा तीव्र रस है कि आत्मा के अनुभव की धारा को टूटने नहीं देता। शरीर का, कुटुंब का क्या होगा—ऐसे विकल्प के कोलाहल को एक ओर रखकर चैतन्यस्वभाव की महिमा का मंथन कर। छह महीने तक अंतर्मुख होने का प्रयत्न कर और बाह्य की चिंता छोड़ दे ! तू चिंता करेगा तो भी उनका कुछ करनेवाला नहीं है; इसलिये तू उनकी चिंता छोड़कर एकबार तो सततरूप से अपने आत्मा के प्रयत्न में लग... छह महीने तक तो चैतन्य के चिंतन में अपना उपयोग लगा। ऐसे धारावाही प्रयत्न से अवश्य तुझे अपने अंतर में आत्मा का अनुभव होगा।

अहा, देखो तो ! आचार्यदेव ने कैसी कोमलता से समझाया है ! आत्मा के अनुभव की कैसी प्रेरणा दी है। भाई, तेरी वस्तु तेरे अंतर में है, उसके सन्मुख प्रयत्न करने से वह अवश्य प्राप्त होगी।

अनंत काल से बाह्य में प्रयास करते-करते कुछ हाथ नहीं आया, एक रजकण भी तेरा नहीं हुआ, तथापि उसी में लगा रहता है, यह अपार मूर्खता है ! यदि अंतर में चैतन्य की प्राप्ति का प्रयत्न करे तो अंतर्मुहूर्त में उसकी प्राप्ति हो और अनादि-अनंत काल का सुख मिल जाये।

स्वरूप के अभ्यास द्वारा उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। पर की प्राप्ति तो नहीं होती, परंतु अपनी वस्तु तो अपने में विद्यमान है, यदि चेतकर—जागृत होकर देखे तो अपना स्वरूप अपने वेदन में आता है। अपना स्वरूप कहीं अपने से दूर नहीं है, अंतर्मुख होने से स्वयं ही ज्ञान-आनंदस्वरूप है—ऐसा अनुभव में आता है।

उत्कृष्ट प्रयत्न करे तो एक अंतर्मुहूर्त में ही अज्ञान का पर्दा टूटकर स्वस्वरूप का अनुभव होता है; परंतु शिष्य को अत्यंत कठिन लगता हो तो उसे अधिक से अधिक छह महीने का समय लगाने को कहा है। निष्प्रयोजन कोलाहल छोड़कर स्वरूप के प्रयत्न में लगने से तत्काल उसकी प्राप्ति होती है। प्राप्त करनेवालों ने अंतर्मुहूर्त में प्राप्त किया है... अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान भी होता है, तो फिर सम्यग्दर्शन तो सुगम है, परंतु उसके लिये अंतर्मुख प्रयत्न चाहिये। दृष्टि के आलस्य से स्वयं अपने स्वरूप को नहीं देखता, परंतु है तो अंतर में ही... इसलिये हे भव्य! अन्य समस्त कोलाहल छोड़कर एक चिदानंद तत्त्व की प्राप्ति के प्रयत्न में अपने उपयोग को लगा कि जिससे शीघ्र ही तुझे अपने आत्मा का अनुभव होगा।

स्वानुभव वह मुख्य वस्तु है। वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करके, मति-श्रुतज्ञान को अंतरोन्मुख करके परिणाम को स्वद्रव्य में एकाग्र करने से सम्यग्दर्शन तथा स्वानुभव होता है। ऐसा अनुभव करे, तभी मोह की गाँठ छूटती है और तभी जीव भगवान के मार्ग में आता है।

प्रतापवान प्रभुता

[प्रभुत्वशक्ति पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन का कुछ प्रसाद
पाठकों को यहाँ दिया जा रहा है]

ज्ञानमात्र आत्मा अखंडित प्रतापवान स्वतंत्रता से शोभायमान है—ऐसी उसकी प्रभुता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा की पहिचान होने पर ऐसी प्रभुता की प्रतीति भी साथ होती है। आत्मा की प्रभुता ऐसी है कि उसे कोई तोड़ नहीं सकता या पराधीन नहीं बना सकता। ऐसी प्रभुता की प्रतीति द्वारा पर्याय में प्रभुता प्रगट होती है।

जगत में राजा-महाराजाओं का प्रताप तो उनसे बड़े अन्य राजा-महाराजाओं द्वारा खंडित हो जाता है। देखो, भरत चक्रवर्ती का प्रताप भी बाहुबलि द्वारा खंडित हो गया;—वह तो पुण्य का प्रताप है, वह कोई अखंडित प्रताप नहीं है। यह चैतन्य राजा अनंत गुण का चक्रवर्ती... जिसका प्रताप किसी से खंडित नहीं होता, जिसकी स्वतंत्रता को कोई लूट नहीं सकता। ऐसी अनंत गुण की प्रभुता—शोभा आत्मा में विद्यमान है। एक प्रभुत्वगुण ने सर्व गुणों में प्रभुता भर दी है; इसलिये सर्व गुण अखंडित प्रतापवान स्वतंत्रता से सुशोभित हो रहे हैं। राग द्वारा गुण की प्रभुता खंडित नहीं होती, परंतु गुण की निर्मल पर्याय प्रगट करके राग को खंड-खंड कर दें, ऐसी प्रत्येक गुण में शक्ति है। प्रभुत्व के कारण आत्मा के सर्व गुणों में प्रभुता है और उसके परिणमन में राग का अभाव है। जिसका अभाव ही है, वह आत्मा की प्रभुता को खंडित करे, यह बात कहाँ रही ?

देखो, यह आत्मा की प्रभुता ! अहा, आत्मा में जो प्रभुता भरी है, उसका अनंत माहात्म्य है। ऐसे आत्मा में दृष्टि करने से पर्याय में प्रभुता प्रगट होती है। दुनिया में ऐसा कोई शत्रु नहीं है जो आत्मा की प्रभुता को तोड़ सके। सातवें नरक के जीव को अपनी प्रभुता के अवलंबन से जो सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, उसे तोड़ने की शक्ति वहाँ की अनंत प्रतिकूलता में भी नहीं है। प्रत्येक गुण की निर्मल पर्याय में प्रभुता है, इसलिये अपने से स्वतंत्ररूप से वह शोभित होता है।

किसी संयोग के कारण उसकी शोभा हो—ऐसा नहीं है। ज्ञान की प्रभुता में ज्ञानावरण कर्म का अभाव है, उसकी प्रभुता को ज्ञानावरणकर्म नष्ट नहीं कर सकता। सिद्ध प्रभु लोकाग्र में निजस्वरूप में विराज रहे हैं। वे जहाँ विद्यमान है, वहाँ अपनी स्वतंत्र प्रभुता से ही विद्यमान हैं। ऐसा नहीं है कि धर्मास्तिकाय का अभाव होने के कारण पराधीनरूप से वहाँ अटक जाना पड़ा हो। अरे, सिद्ध प्रभु में भी जिसे पराधीनता दिखायी देती हो, वह जीव आत्मा की स्वतंत्र प्रभुता को किसप्रकार प्रतीति में लेगा? भाई, आत्मा की प्रभुता के स्वतंत्र प्रताप को कोई नष्ट नहीं कर सकता। द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों में ऐसी प्रभुता है।

कोई कहे कि—ज्ञान क्यों नहीं विकसित होता? तो कहते हैं तू अपनी प्रभुता को नहीं सँभालता, इसलिये ज्ञान का विकास नहीं होता। यदि तू अपनी प्रभुता के सन्मुख हो तो वह पर्याय में प्रगटे। प्रभुता से विमुख होने के कारण पर्याय में पामरता हुई है, तथापि शक्ति में तो प्रभुता विद्यमान ही है। पामरता का सेवन करके अपनी प्रभुता को तूने छिपा रखा है; प्रभुता को प्रतीति में लेकर उसका सेवन कर तो पर्याय में सर्वज्ञतारूप प्रभुता प्रगट हो जायेगी और तेरा आत्मा अखंड प्रतापवान स्वतंत्रता से शोभायमान हो उठेगा।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण है; उस स्वरूप की अनुभूति में अनंत गुणों का स्वाद सम्मिलित है। इसप्रकार ज्ञान के साथ अविनाभूत अनंत गुण-पर्यायों का जो समूह-उतना आत्मा है। आत्मा अपने अनंत गुण-पर्यायों में व्यापक है, उसके बदले पर में व्यापक मानता है, इसलिये वह अनुभव में नहीं आता। पर से भिन्न है, परंतु उसे जाननेवाला जो ज्ञान-उससे अभिन्न है। ज्ञान और उसके साथ के आनंद, प्रभुता आदि अनंत गुणों में आत्मा अभिन्न है। ऐसे आत्मा पर दृष्टि डालने से एक क्षण में परम चैतन्यनिधान प्रगट होता है। अहो, ऐसा चैतन्यनिधान अपने पास ही है परंतु जगत् उसे बाहर ढूँढ़ता है... मानों राग में से मेरे गुणों का निधान प्रगट होगा। परंतु भाई, तेरा निधान राग में नहीं है, चैतन्य में तेरा निधान भरा है। अपने चैतन्यनिधान को जानकर उसमें दृष्टि डाल। सबको जाननेवाला स्वयं अपना माहात्म्य भूलकर, राग को तथा पर को माहात्म्य देता है कि—यह पदार्थ अच्छे परंतु उन्हें जाननेवाला अपना ज्ञान कितना अच्छा है—वह अनुभव में नहीं लेता। उसे खबर नहीं है कि मैं तो ज्ञान हूँ और यह रागादि भाव चेतनारहित हैं, इमनें स्व-पर को जानने की शक्ति-स्वभाव नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव से छूटकर अज्ञानी 'पर मेरा, राग मैं'—ऐसा अनुभव करता है। भाई, परद्रव्य

शरीरादि कहीं तेरे ज्ञान में एकमेक नहीं हो गये हैं; पृथक् ही हैं, परंतु 'यह मेरे हैं'—ऐसे भ्रम सहित तू उनमें एकमेक हो रहा है—ममत्व कर रहा है, इसलिये परिभ्रमण और दुःख है। अपनी अनंत गुणों की प्रभुता को जान ले तो वह परिभ्रमण और दुःख दूर हो जाये।

आत्मा चैतन्यस्वभावी सूर्य है; उसका प्रताप कैसा है ? उसके गुणों का सामर्थ्य कितना है ? उसका क्षेत्र कितना है ? संख्या कितनी है ? उसका सच्चा कार्य क्या है ?—उसका विचार जीव ने कभी यथार्थरूप से नहीं किया। यहाँ अनंत गुण निधान बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई, यदि तुझे शांति और आनंद का अनुभव करना हो, अथवा स्वतंत्र सुख के मार्ग की आवश्यकता हो तो ज्ञान द्वारा ज्ञाता को जान। बाह्य में जो दृष्टिगोचर होता है, वह तू नहीं है। जो दृष्टा है, वह तू है। तेरे कारण राग या शरीर नहीं हैं, तेरे कारण तो ज्ञान है, अर्थात् ज्ञान ही तेरा कार्य है।

आत्मा ज्ञाता है, तथापि, स्वयं अपने को क्यों नहीं जानता ? ज्ञान को स्वोन्मुख नहीं करता इसलिये आत्मा ज्ञात नहीं होता। अनंत शक्ति का परमेश्वर है तो स्वयं ही, परंतु स्वयं अपने को भूल गया है। ३८वीं गाथा में कहा था कि—जिसप्रकार कोई मुट्ठी में लिये हुए सुवर्ण को भूलकर बाहर ढूँढ़ता हो, वह पुनः याद करके अपनी मुट्ठी में ही सुवर्ण को देखे कि—अरे, यह सोना तो मेरी मुट्ठी में है !! तब उसे अपनी भूल का पता चलता है। उसीप्रकार यह जीव अनादि अज्ञान के कारण अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, परंतु श्रीगुरु ने वीतरागी उपदेश द्वारा बारंबार समझाया, तब उसे अपनी प्रभुता की प्रतीति हुई, सावधान होकर अपने में ही अपनी प्रभुता को देखा कि अहो, अनंत शक्ति की परमेश्वरता तो मुझमें ही है, मुझमें ही मेरी प्रभुता है; परद्रव्य का अंशमात्र मेरा नहीं है; अपने भिन्न स्वरूप के अनुभव से मैं प्रतापवान हूँ।—इसप्रकार अपनी प्रभुता को जानकर उसका श्रद्धान करके तथा उसमें तन्मयरूप से लीन होकर सम्यक्-प्रकार से आत्माराम हुआ... स्वयं अपने को अनंत शक्तिसंपन्न ज्ञायकस्वभावरूप से अनुभवता हुआ प्रकाशित हुआ। मोह का नाश होकर ज्ञानप्रकाश प्रगट हुआ।

देखो, इसका नाम ज्ञानदशा ! इसका नाम अनुभवदशा ! ऐसी दशा होने पर स्वयं को अपना अनुभव होता है और स्वयं को अपने आनंद की प्रतीति होती है। अहा ! जहाँ परमेश्वर से भेंट हुई उस दशा की क्या बात ! जिसे ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा प्रगट हुआ, वह कहता है कि अहो, सर्व जीव ऐसे आत्मा का अनुभव करो; सर्व जीव आत्मा के शांत रस में निमग्न होओ !

अपने में शांतरस का समुद्र उल्लसित हुआ, वहाँ कहता है कि—सर्व जीव इस शांतरस के सागर में निमग्न हो जाओ!

देखो तो, संतों को आत्मा की प्रभुता का कितना प्रेम है! आत्मा तो अनंत गुणरत्नों से भरपूर विशाल रत्नाकर है। समुद्र को रत्नाकर कहा जाता है। आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण चैतन्यरत्नाकर है; उसमें इतने रत्न भरे हैं कि एक-एक गुण के क्रम से उनका कथन करने पर कभी पूरा न हो। आत्मा चैतन्यरत्नाकर तो सबसे महान है।

रत्नः—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह मोक्षमार्ग के तीन रत्न हैं।

महा रत्नः—इस रत्नत्रय के फल में केवलज्ञानादि चतुष्टय प्रगट होते हैं, वे केवलज्ञानादि महारत्न हैं।

महान से भी महान रत्नः—ज्ञानादि एक-एक गुण में अनंत केवलज्ञान रत्नों की खान है, इसलिये वह महान रत्न हैं।

महा-महा-महारत्नः—ऐसे अनंत गुणरत्नों की खान आत्मा वह तो महा-महा-महारत्न हैं; उसकी महिमा की क्या बात!

भाई, ऐसा महिमावान रत्न तू स्वयं है। महान रत्नों की खान तुझमें है। परंतु कोई परवस्तु तुझमें नहीं है, वह वस्तु तेरी नहीं है, तूने व्यर्थ ही पर की चिंता अपने गले लगा रखी है। वास्तव में जो तेरा हो, वह तुझसे कभी अलग नहीं हो सकता और जो तुझसे पृथक् हो जाये, वह सचमुच तेरा नहीं हो सकता। क्या ज्ञान कभी आत्मा से पृथक् होगा? नहीं; क्योंकि वह आत्मा से भिन्न नहीं है, वह तो आत्मा ही है। शरीरादि आत्मा नहीं हैं; इसलिये वे आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। पहले से पृथक् थे, इसलिये पृथक् हो गये; एकमेक होते तो पृथक् नहीं हो सकते थे। उसीप्रकार ज्ञान और राग भी एकमेक नहीं हो गये हैं, भिन्नस्वरूप ही रहे हैं; इसलिये भिन्न हो जाते हैं। प्रज्ञा छैनी द्वारा राग तो आत्मा से पृथक् हो जाता है और ज्ञान अंतर में एकमेक ही रहता है।—ऐसा भेदज्ञान करे तो आत्मा की सच्ची प्रभुता समझ में आ जाये।

अहो, परमेश्वर-तीर्थंकर परमात्मा की दिव्य वाणी में भी जिसकी पूरी महिमा नहीं आती—ऐसा चैतन्यरत्न तू है। तेरे एक-एक गुण में अनंत शक्ति झलकती है और ऐसे अनंत गुणों से झिलमिलाती तेरी प्रभुता है! अनंत शक्ति के वैभव से भरपूर आनंद का धाम ऐसा भगवान तू स्वयं है! परंतु अपनी दृष्टि के आलस्य से तू स्वयं अपने को नहीं देख पाता। 'पापं

अघं हरतीति हरि' तू स्वयं है, तू स्वयं अपने से किंचित् विलग—दूर नहीं है, तथापि उसकी प्रतीति बिना अनंत काल व्यतीत कर दिया। भाई! अब तो जाग! जागृत होकर अपने में देख! अंतर में दृष्टि करते ही—'**मेरो प्रभु नहीं दूर दिसांतर, मोहि में है, मोहे सूझत नीके।**'—इसप्रकार तुझे अपने में ही प्रभुता दिखायी देगी। ज्ञानस्वरूप में दृष्टि करने से आत्मा हाथ में आता है; उसका अनुभव होता है। उस अनुभव में उल्लसित शक्तियों का यह वर्णन है। अनुभव में तो अनंत शक्तियों का समावेश होता है, परंतु कथन में अनंत नहीं आतीं, कथन में तो अल्प ही आती हैं; तथापि एक-एक शक्ति अनंत शक्तियों की गंभीरता को लेकर आती है; एक-एक शक्ति के वर्णन में अनंत शक्तियों की गंभीरता विद्यमान है।

पुस्तकें मँगवाते समय अवश्य ध्यान रखिये!

पुस्तकें मँगवानेवाले महानुभावों से निवेदन है कि पुस्तकों का आर्डर देते समय अपना पूरा नाम एवं पता (जिला, तहसील आदि के साथ) साफ अक्षरों में लिखें। तथा अपने स्थानीय अथवा निकट के रेलवे स्टेशन का नाम भी स्पष्ट लिखें। जहाँ तक हो सके स्टेशन तथा रेलवे का नाम अंग्रेजी में अवश्य लिख दें, क्योंकि कभी-कभी एक ही नाम के स्टेशन होने से पार्सल दूसरी जगह पहुँच जाते हैं और आपको तथा हमें असुविधा होती है। कृपया, अवश्य सहयोग दीजिये।

मैनेजर
दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक ४३] [अंक २८१ से आगे

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पर पूज्य स्वामीजी के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

देह में आत्मबुद्धि के कारण यह जीव अपने को भवभ्रमण में भटकाता है और देह से भिन्न चिदानंदस्वरूप आत्मा को जानकर आत्मा में ही आत्मबुद्धि द्वारा अपने को मोक्ष में ले जाता है। इसप्रकार आत्मा स्वयं ही अपने बंध-मोक्ष का कर्ता है, यानी हितमार्ग में ले जाने के लिये निश्चय से स्वयं ही अपना गुरु है—यह बात ७५ वीं गाथा में बतलायी।

अब, जो देहादि से भिन्न आत्मा को नहीं जानता और देह को ही आत्मा मानकर उसमें आत्मबुद्धिसहित वर्तता है, उसे मरणकाल में क्या होता है, सो कहते हैं:—

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम्॥७६॥

जिसे दृढ़तापूर्वक देह में ही आत्मबुद्धि है—देह, सो मैं हूँ—ऐसा माना है, वह जीव, देह छूटने का समय आने पर अपना मरण मानकर मरण से भयभीत होता है तथा मित्रादि का वियोग देखकर भयभीत होता है।

देखो, एक बार तो सबको इस देह के वियोग का प्रसंग आयेगा ही। यह शरीर पृथक् है, सो पृथक् होगा, वह कहीं आत्मा नहीं है। जिसने देह से भिन्न आत्मतत्त्व को लक्ष में नहीं लिया, वह देह का वियोग होने से आत्मा का मरण मानता है; इसलिये वह अशरणरूप से मरता है। ज्ञानी तो आत्मा को शरीर से भिन्न जानता है, शरीर को पहले से पृथक् ही जाना है, ध्रुवचैतन्य की दृष्टि में उसे मरण का भय नहीं है। ज्ञानी जानता है कि यह जड़ शरीर मेरा नहीं है; मेरा तो

ज्ञानशरीर है, उस ज्ञानशरीर का मुझे कभी वियोग नहीं है; इसलिये मेरा मरण नहीं है। जब मरण ही मेरा नहीं है तो फिर भय कैसा ? जिसे देहदृष्टि है, उसी को मरण का भय है, क्योंकि देह से भिन्न आत्मा की शरण उसे भासित नहीं होती; इसलिये वह अशरणरूप से मरता है।

भाई, प्रथम, आत्मा और शरीर के बीच भिन्नता जानकर, शरीर से भिन्न आत्मा को स्वसंवेदन में ले। 'शरीर, सो मैं'—ऐसी दृष्टि के बदले, 'आत्मा मैं'—ऐसी दृष्टि कर; दृष्टि को एकदम बदल दे। दृष्टि को बदले बिना जो भी चेष्टा की जाती है, वह सब जन्म-मरण का कारण होती है। देहदृष्टिवान को 'मैं मर जाऊँगा' ऐसा भय कभी नहीं मिटता; आत्मदृष्टिवान को अपना अविनाशीपना भासित हुआ है, इसलिये उसे मरण का भव नहीं रहता। इसलिये कहा है कि—

'अब हम अमर भये न मरेंगे.....
या कारन मिथ्यात्व दियो तज, फिर क्यों देह धरेंगे.....
अब हम अमर भये.....'

देह और आत्मा की एकत्वबुद्धि रखकर जीव कुछ भी क्रियाकांड करे, शुभराग करे, परंतु उसमें ऐसी शक्ति नहीं आती कि मरण का भय मिटा सके। भेदज्ञान में ही ऐसी शक्ति है कि अनंत जन्म-मरण से छुड़ाता है और मृत्यु का भय मिटाता है।—ऐसा भेदज्ञान किसी बाह्य क्रिया के आश्रय से या राग के आश्रय से नहीं होता; चैतन्य के स्वसंवेदन के अभ्यास द्वारा ही ऐसा अपूर्व भेदज्ञान होता है।

अहा, सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ तो 'भवकट्टी' हो गयी। जिसप्रकार दो बालकों की आपस में न बने तो 'कट्टी' करके मित्रता छोड़ देते हैं; उसीप्रकार बालबुद्धि से शरीर और आत्मा को एक मानकर, शरीर के साथ मित्रता कर-करके शरीर के संग से जीव चार गति में भटका, परंतु अब भिन्नता की प्रतीति होने से शरीर के साथ की मित्रता छोड़कर कट्टी की; इसलिये भव के साथ कट्टी करके मोक्ष के साथ मित्रता कर ली; वह अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करेगा।

अज्ञानी तो शरीर के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मानता है, शरीर के वियोग को अपना मरण मानता है; शरीर की क्रिया को अपनी क्रिया मानता है, परंतु अपनी ज्ञानक्रिया को नहीं जानता। भाई, तू चेतन और शरीर जड़; तेरी क्रिया ज्ञानमय; शरीर की क्रिया अजीव। जीव

का धर्म जीव की क्रिया द्वारा होता है या अजीव की ? शरीर से भिन्न उपयोगस्वरूप आत्मा सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसा तुझे अत्यंत स्पष्टरूप से संत समझाते हैं—तो अब तो तू भेदज्ञान कर! एक बार प्रसन्न होकर अंतर में ऐसा भेदज्ञान कर।

मेरी कोई चेष्टा शरीर में नहीं है और शरीर की किसी चेष्टा में मैं नहीं हूँ—ऐसा भेदज्ञान जिसे नहीं है, वह मृत्यु के भय से थर-थर काँपता है। भले ही कदाचित् मृत्युकाल में ऊपर से धैर्य या शांति रखे, परंतु 'मैं मरता हूँ'—ऐसा जो अभिप्राय, उसमें अपने अस्तित्व का ही इंकार पड़ा है; इसलिये मृत्यु का भय उसे सचमुच मिटा ही नहीं है। ज्ञानी तो निःशंक हैं कि अविनाशी आत्मपद को दृष्टि में लेकर मृत्यु को तो मैंने मार डाला है। 'मृत्यु मर गयी' .....फिर मृत्यु का भय कैसा ? अज्ञानी को मृत्यु का डर है; ज्ञानी को तो आनंद की लहर है.....

भाई, बाह्य में तूने शरीर, मित्र, धन आदि को शरणरूप मानकर जीवन बिताया, तो उन सबके वियोगकाल में तू किसकी शरण लेगा ? अंतर में जो शरणभूत है, उसे तो तूने जाना नहीं है! मृत्युकाल में तू किसके आधार से शांति रखेगा ? संयोग की शरण में कभी शांति या समाधि नहीं होती; इसलिये अज्ञानी तो देहदृष्टि के कारण मृत्यु से भयभीत होकर असमाधिरूप से मरता है—ऐसी अज्ञानी की बात कही। ज्ञानी को तो शरीर का छोड़ना, वह एक वस्त्र बदलकर दूसरा धारण करने समान है, इसलिये वह तो निर्भयरूप से शरीर को छोड़ता है—यह बात अब कहेंगे ॥७६॥

अरे जीव! यह जरा-सा दुःख भी तुझसे सहन नहीं होता तो इसकी अपेक्षा महान तीव्र दुःख जिससे सहन करना पड़े—ऐसे विपरीत भाव का सेवन तू क्यों कर रहा है ? यदि तू सचमुच दुःखों से डरता है तो दुःख के कारणरूप ऐसे मिथ्यात्वादि विपरीत भावों को शीघ्र छोड़।

धर्मात्मा की अनुभूति का वर्णन

[श्री समयसार गाथा १४३ के प्रवचन से]

अहो, निर्विकल्प अनुभूति की महिमा सूक्ष्म एवं गंभीर है। यहाँ इस अनुभवदशा का कोई अलौकिक वर्णन किया है। चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि की अनुभवदशा की तुलना केवली भगवान की जाति के साथ की है। धर्मी की अनुभवदशा क्या है और निर्विकल्प अनुभव के समय कैसी स्थिति होती है, उसे समझे तो अपने अंतर में भेदज्ञान होकर आत्मा की प्रतीति हो।

''व्यवहार से मेरा आत्मा 'बद्ध' है''—ऐसा शुभविकल्प अथवा ''निश्चय से मेरा आत्मा 'अबद्ध' है'',—ऐसा शुभविकल्प, यह दोनों विकल्प तो राग हैं; उस राग के पक्ष में रुका रहे, तब तक आत्मा का अनुभव या सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अब उन दोनों नयों के पक्ष से रहित आत्मा की साक्षात् अनुभूति किसप्रकार हो? उसकी जिसको जिज्ञासा है, ऐसा शिष्य किसप्रकार पक्षातिक्रांत होता है, उसका यह वर्णन है। यह अंतर की मुख्य-प्रयोजनभूत बात है।

विकल्प का पक्ष, चाहे वह व्यवहार का हो या निश्चय का हो, किन्तु विकल्प वह तो अशांतचित्त है, उसमें चैतन्य की शांति का वेदन नहीं है। जो जीव पक्ष से रहित होकर चैतन्यस्वरूप में ही निवास करते हैं—उसमें उपयोग को एकाग्र करते हैं, वे समस्त विकल्पजाल से छूटकर शांतचित्त द्वारा साक्षात् अमृत का पान करते हैं—अतीन्द्रिय आनंद को अनुभवते हैं।

यहाँ (१४३ वीं गाथा में) श्रुतज्ञानी जीव स्वानुभूति के समय कैसा पक्षातिक्रांत है, उस बात की तुलना केवली के साथ करके समझाते हैं। स्वानुभूति में वर्तते हुए जीव को दोनों नयों का मात्र ज्ञातापना है, किंतु नय के विकल्प का ग्रहण नहीं; उसके ज्ञान का उत्साह स्वभाव के अनुभव की तरफ झुका है; इसलिये विकल्प के ग्रहण का उत्साह छूट गया है; ज्ञान उस विकल्प को लाँघकर अंतर में स्वभाव की ओर उत्सुक हुआ है। छह बोलों से केवलज्ञान के साथ श्रुतज्ञानी के अनुभव की तुलना करके पक्षातिक्रांत अनुभव का स्वरूप समझायेंगे।

पक्षातिक्रांत

केवली भगवान..... और ..... स्वानुभूतिवान श्रुतज्ञानी

१- विश्व के साक्षी होने से दोनों नयों के स्वरूप को मात्र जानते ही हैं, उनको वैसे नयपक्ष के विकल्प उत्पन्न नहीं होते।	१- श्रुतज्ञानी को नयपक्ष के विकल्प उत्पन्न होने पर भी, उन्हें उन विकल्पों के ग्रहण का उत्साह छूट गया है, इसलिये वे भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते।
२- जिसप्रकार विश्व को साक्षीरूप से जानते हैं, उसीप्रकार नयपक्ष को भी साक्षीरूप से केवल जानते ही हैं।	२- श्रुतज्ञानी भी नयपक्ष को केवल जानते ही हैं, (क्योंकि नयपक्ष के ग्रहण का उत्साह उनको नहीं, उनका उपयोग तो चैतन्यस्वभाव को ही ग्रहण करने की ओर लगा है।)
३- केवली भगवान केवलज्ञान द्वारा स्वयं ही विज्ञानघन हुए हैं।	३- श्रुतज्ञानी को भी तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से शुद्ध आत्मा का ग्रहण हुआ है, इसलिये वे स्वयं विज्ञानघन हुए हैं।
४- केवली प्रभु सदा विज्ञानघन हुए हैं।	४- श्रुतज्ञानी उस समय अर्थात् अनुभव काल में विज्ञानघन हुए हैं।
५- केवली प्रभु तो श्रुतज्ञान की भूमिका से ही अतिक्रांत हैं।	५- श्रुतज्ञानी अनुभव के समय श्रुतज्ञानात्मक समस्त विकल्पों की भूमिका से अतिक्रांत हैं।
६- केवली प्रभु किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसलिये वे पक्षातिक्रांत हैं।	६- श्रुतज्ञानी भी स्वानुभूति के समय किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसलिये वे भी समस्त विकल्पों से रहित पक्षातिक्रांत हैं; वे अनुभूतिमात्र समयसार हैं। उन्हें आत्मा की ख्याति-आत्मा की प्रसिद्धि है; इसका नाम 'धर्मलब्धि का काल' हैं।

अहो, अनुभवदशा का कोई अलौकिक वर्णन किया है। चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि की अनुभवदशा की तुलना केवली भगवान की जाति के साथ की है। धर्मी की अनुभवदशा क्या है और निर्विकल्प अनुभव के समय की स्थिति कैसी होती है, यह समझ ले तो अंतर में भेदज्ञान होकर आत्मा की प्रतीति हो। विकल्प द्वारा आत्मा हाथ नहीं आता, विकल्प से भिन्न होकर ज्ञान अंतरोन्मुख हो, तब उस ज्ञान में आत्मा अनुभव में आता है। उसमें परम समाधि है, उसी में परम शांति है, उसमें जीव का सच्चा जीवन है। आत्मा जैसा था, वैसा उसमें प्रसिद्ध हुआ; आत्मा अपने परम स्वभाव से प्रसिद्ध हुआ; इसलिये उसे परम आत्मा कहा। चौथे गुणस्थान की यह बात है। ऐसी अनुभूति होने पर ज्ञान को किवल्प के साथ का कर्ताकर्मपना छूट गया। मैं ज्ञान कर्ता और विकल्प मेरा कार्य—ऐसी कर्ताकर्मबुद्धि छूट गई और ज्ञान, ज्ञान में ही तन्मय होकर परिणमन करने लगा। आस्रव से छूटकर संवररूप परिणमित हुआ। वहाँ सब झगड़े मिट गये, समस्त क्लेश दूर हो गया, ज्ञान समस्त विकल्पजाल से छूटकर स्वयं के चैतन्यस्वरूप में गुप्त हुआ। ऐसा परम शांतचित्तरूप होकर ज्ञानी अपने शुद्ध आत्मा को साक्षात् अनुभवता है।

❖ जिसप्रकार केवली भगवान पक्षातिक्रांत हैं, उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी पक्षातिक्रांत हैं—यह बात समझाई है। वाह! निर्विकल्प अनुभूति की महिमा कैसी सूक्ष्म एवं गंभीर है! श्रुतज्ञानी साधक की अनुभूति का स्वरूप समझाने के लिये आचार्यदेव ने केवली भगवान का उदाहरण दिया, और उनके साथ साधक की अनुभूति की तुलना की। केवली भगवान तो केवलज्ञान द्वारा समस्त विश्व के साक्षी हुए हैं, उनको कोई विकल्प नहीं आता; साधक श्रुतज्ञानी को अभी क्षयोपशम की भूमिका होने से श्रुतसंबंधी विकल्प उत्पन्न होते हैं परंतु उसे उन विकल्पों को ग्रहण करने का उत्साह छूट गया है, उपयोग को विकल्प से भिन्न करके ज्ञानस्वभाव के ग्रहण की ओर झुकाया है, इसलिये उस स्वभाव की ओर का ही उत्साह है और विकल्प की ओर का उत्साह नहीं है।

❖ जिसप्रकार केवली भगवान नयपक्ष के किसी विकल्प को नहीं करते, विश्व के साक्षी हैं, उसीप्रकार नयपक्ष के भी साक्षी हैं, साक्षीरूप से केवल जानते ही हैं; उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी नयपक्ष के किसी विकल्प को नहीं करते किंतु उसके स्वरूप को केवल जानते ही हैं। इस विकल्प से मुझे अंशमात्र लाभ होगा, अथवा विकल्प द्वारा स्वरूप का अनुभव होगा—ऐसी बुद्धि सर्वथा छूट जाने से विकल्प के ग्रहण का उत्साह छूट गया है, इसलिये उसके साक्षी होकर स्वभाव के ग्रहण की ओर परिणति झुक गई है।

❖ केवली भगवान निरंतर प्रकाशमान सहज केवलज्ञान द्वारा स्वयं सदा विज्ञानघन हुए हैं, श्रुतज्ञानी भी अपनी तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि द्वारा अर्थात् स्वसन्मुख उपयोग द्वारा चैतन्यस्वभाव को ग्रहण करके उस काल विज्ञानघन हुए हैं। साधक को ऐसी अनुभूति सदा नहीं रहती; इसलिये ऐसा कहा है कि उस अनुभूति के समय विज्ञानघन हुए हैं। केवली भगवान को तो कभी विकल्प नहीं उठता, इसलिये वे तो सदा विज्ञानघन हुए हैं; और श्रुतज्ञानी तीक्ष्ण ज्ञान-उपयोग द्वारा चैतन्यस्वरूप को अनुभवते हुए उस काल विज्ञानघन हुए हैं। 'विज्ञानघन' में विकल्प का प्रवेश नहीं है।

❖ केवली भगवान तो श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रांत हो गये हैं, उन्हें तो विकल्प कहाँ से हो? श्रुतज्ञान हो, वहाँ विकल्प हो सकते हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान एक ही ज्ञेय में अधिक समय स्थिर नहीं रह सकता, किंतु केवली प्रभु के तो श्रुतज्ञान ही नहीं रहा, उन्हें तो स्थिर उपयोगरूप केवलज्ञान प्रगट हो गया है; इसलिये उनको विकल्प का अवकाश ही नहीं। श्रुतज्ञानी को श्रुत की भूमिका में यद्यपि विकल्प होते हैं, किंतु ज्ञान को अंतर्मुख करके अनुभूति के समय तो वे भी समस्त विकल्पों की भूमिका से अतिक्रांत हुए हैं। अभी श्रुत की भूमिका से अतिक्रांत नहीं हुए हैं परंतु उस भूमिका के समस्त विकल्पों से अतिक्रांत होकर निर्विकल्प अनुभूति द्वारा शांतचित्त होकर चैतन्य के अमृत का पान करते हैं।

❖ इसप्रकार जैसे केवली भगवान समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर होने से नयातिक्रांत हैं, उसीप्रकार साधक श्रुतज्ञानी भी स्वभाव की अनुभूति के समय समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर होने के कारण किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसलिये वे भी नयातिक्रांत हैं; यद्यपि बाद में जो विकल्प उठते हैं, उनका भी उनकी दृष्टि में ग्रहण नहीं है, उनमें एकत्वबुद्धि नहीं होती, परंतु उन विकल्पों को भी छोड़कर जब ज्ञान को अंतर्मुख करें, तभी साक्षात् अनुभूति का आनंद आता है। उसका यहाँ आचार्यभगवान ने अलौकिक वर्णन किया है।

अनुभूति की अत्यंत रसप्रद बात समझायी है! अनुभव समस्त विकल्पों से परे है—फिर भले ही वह विकल्प शुद्धात्मा का हो! जैसे केवली को विकल्प नहीं, वैसे ही साधक को भी अनुभव में विकल्प नहीं। विकल्प तो आकुलता है, और अनुभव तो परम-शांत आनंदरूप है। साधक की अनुभवदशा बहुत सूक्ष्म एवं गंभीर है। उसका स्वरूप केवली का दृष्टांत देकर समझाया है, तदनुसार जो समझेगा, उसे ऐसी अनुभूति अवश्य होगी। ●

रागादि परभावों से भिन्न आत्मा का ज्ञान ही सम्यग्दर्शन तथा धर्म का प्रारंभ है

[श्री समयसार कलश ४५ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन का संक्षिप्त सार]

यह अजीव अधिकार का अंतिम कलश है। इसमें कहते हैं कि—भगवान आत्मा पुण्य-पाप के विकल्पों से रहित चैतन्य वस्तुज्ञातृद्रव्य है। चेतन वस्तु वर्तमान काल में रागादि निमित्तों के बिना अपने-आप प्रगट हुई है। कैसे प्रगट हुई है ? तो कहते हैं कि समस्त ज्ञेयों को केवलज्ञान में प्रत्यक्ष प्रतिबिंबित करके प्रगट हुई है।

प्रथम सम्यग्दर्शन में तो आनंद का स्वाद लेता हुआ आत्मा प्रगट होता है और पश्चात् सर्वप्रकार से तीन काल-तीन लोक को जानता हुआ सर्वज्ञरूप से प्रगट होता है। आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव तो शक्तिरूप से अनादि-अनंत है, परंतु वर्तमान पर्याय में जब वह सर्वज्ञस्वभाव प्रगट होता है, तब विश्व के समस्त ज्ञेय उसमें प्रतिबिंबित होने लगते हैं—झलकने लगते हैं—ज्ञात होने लगते हैं। उसी का नाम केवलज्ञान है।

भगवान आत्मा क्या करके प्रगट होता है ? कि चैतन्यलक्षणवान भगवान आत्मा दया-दान-रागादि परिणामों से पृथक् भेदज्ञानबुद्धिरूपी करवत के बारंबार अभ्यास से जीव-अजीव के भेद करता हुआ प्रगट होता है अर्थात् अपने शुद्ध चिदानंदस्वरूप का अनुभव करता है।

कोई प्रश्न करता है कि—जीव-अजीव के विभाग तो भेदज्ञानरूपी करवत द्वारा किये, परंतु उससे पूर्व वे किसरूप में थे ?—तो कहते हैं कि अनादिकाल से जीव-अजीव भिन्न ही हैं, परंतु उन्हें भेदज्ञान द्वारा प्रगटरूप से भिन्न-भिन्न नहीं किया था। जिसप्रकार सुवर्ण और पत्थर एकरूप चले आ रहे हैं, दोनों पृथक्-पृथक् होने पर भी अग्नि के संयोग बिना प्रगटरूप से पृथक् नहीं होते; अग्नि का संयोग मिलते ही तत्काल भिन्न हो जाते हैं। उसीप्रकार जीव और अजीव अथवा जीव और कर्म का संयोग अनादिकाल से चला आ रहा है; यद्यपि वे भिन्न-भिन्न हैं, परंतु शुद्धस्वरूप का अनुभव किये बिना प्रगटरूप से भिन्न-भिन्न नहीं होते। जिस काल शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है, उस काल आत्मा रागादि परभावों से पृथक् अनुभव में आता है। इसी का नाम जीव-अजीव की भिन्नता अथवा भेदज्ञान है। भाई, तेरी क्रिया तुझमें होती या पर में ? शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो पर है; उसके द्वारा आत्मा में कुछ नहीं हो सकता। दया-दान के परिणाम विभाव हैं और उनसे पृथक् आत्मा चैतन्यतत्त्व है-इसप्रकार दोनों को भेदज्ञानपूर्वक जानना ही सम्यग्दर्शन है और वही धर्म का प्रारंभ है।

स्व-प्रयोजन को साधे वही सच्चा पुरुष है

चेतना आदि अपने गुणों का जो निजपुर-उसमें जो सोता है, उसे पुरुष कहते हैं। निजगुण की चेतना का स्वामी होकर उसके आनंद को जो आत्मा भोगता है, वही अपने प्रयोजन को साधनेवाला पुरुषार्थी है। जो जीव राग में लीन होकर अपने गुणों को भूलते हैं, वे स्वप्रयोजनरूप अर्थ को साधने में समर्थ नहीं हैं, अतः उन्हें यथार्थ में पुरुष नहीं कहते। 'पौरुष' शरीर में नहीं है परंतु चैतन्यपरिणतिरूप निजपद का स्वामी बनकर उसमें एकत्वरूप परिणमे, उस आत्मा को ही पुरुष कहा है; और वह पुरुष सम्यक्त्वादि उपाय द्वारा अपने अर्थ-प्रयोजन को सिद्ध करता है—उसकी यह बात है, अर्थात् पुरुष के अर्थ की सिद्धि के उपाय का यह वर्णन है।

भगवान अजितनाथ की स्तुति करते हुए भक्त कहता है कि हे नाथ! राग-द्वेष को आपने जीत लिया है, राग-द्वेष द्वारा आप जीते नहीं जा सके-इसलिये आप यथार्थ में 'अजित' हो, आप सच्चे पुरुषार्थवान-पुरुष हो। परंतु जो जीव राग से हार जाये, उसे पुरुष कौन कहे? निजगुण के उपभोगरूप स्वगुण की शुद्ध परिणति का स्वामी न बनकर वह तो राग का दास हो रहा है—ऐसे को पुरुष कौन कहे? प्रभो! आपका विश्राम-स्थल तो अनंत गुणों की शुद्ध चेतना है। निजगुण के निर्मल पुर में जो सोता है, वह पुरुष है। वही अपने सच्चे प्रयोजनरूप अर्थ को साध सकता है। पुरुष के स्वप्रयोजनरूप अर्थ की सिद्धि का जो उपाय, वह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय है; रत्नत्रय ही पुरुष के अर्थ की सिद्धि का उपाय है; उसका वर्णन श्री अमृतचंद्राचार्य ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में किया है। इस उपाय द्वारा जो अपना प्रयोजन साधे, वही सच्चा पुरुष है।

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 'प्रवचन' से)

मैं शुद्ध ज्ञान और आनंदस्वरूप हूँ, रागादि व्यवहार मुझसे बाह्य है—ऐसा अंतर का भेदज्ञान करके जो जीव आत्मस्वरूप में जागृत है—उसी में सावधान है, वह मुक्ति प्राप्त करता है।

पर्यूषण पर्व-समाचार

[गतांक से आगे]

नागपुर—यहाँ से समाज के प्रमुख व्यक्ति सिवनी गये थे। सिवनी की समाज ने श्री धन्नालालजी के प्रभावशाली प्रवचन सुनकर अपने हृदयोद्गार इन शब्दों में प्रगट किये कि—'ऐसी अपूर्व बात सुनने को पहले नहीं मिली।' सिवनी में जो गत ४० वर्षों से बन्द थी, वह जिनेन्द्र रथयात्रा इस बार निकाली गई। पश्चात् पंडितजी छिंदवाड़ा होते हुए नागपुर पधारे। नागपुर में प्रतिदिन चार कार्यक्रम अलग-अलग स्थानों पर होते थे। पाँच दिन में १९ प्रवचन हुए, समाज ने बड़ी भारी संख्या में एकत्र होकर लाभ लिया। आपने जिनवाणी के गूढ़ रहस्य को इतनी सरलतापूर्वक समझाया कि समाज ने हार्दिक सन्तोष व्यक्त किया। धर्म, पुण्य-पाप, निश्चय-व्यवहार, निमित्त-नैमित्तिक संबंध, द्रव्यों की शक्ति और वस्तु का सदा स्वतंत्र परिणमन आदि विषयों पर प्रवचन किये। आपका एक प्रवचन सदर में दिगम्बर जैन मंदिर में भी हुआ था, जहाँ आपकी प्रेरणा से स्वाध्याय मंडल की स्थापना हुई। इसप्रकार निरंतर पाँच दिन अध्यात्म वर्षा के साथ अंतिम दो दिन सुखद जल वृष्टि भी हुई। अध्यात्म वर्षा से अनादि के दु:खों से दुखितों को सुख के मार्ग की झलक मिली। तत्पश्चात् आप करेली पधारे। सत्-पुरुष श्री कानजीस्वामी का हम सब पर महान महान उपकार है। उन्हीं के प्रसाद से ऐसे विद्वानों का समागम सुलभ हो सका है।

ओमप्रकाश जैन,
मंत्री श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, नागपुर

करेली (म.प्र.)—पंडित धन्नालालजी सिवनी से छिंदवाडा, नागपुर होते हुए तारीख १४-९-६८ को करेली पधारे। भव्य स्वागत हुआ। एक-एक घंटे तक प्रवचन होता था। समस्त जैन समाज ने बड़े उत्साह से भाग लिया; समाज की ऐसी धारणा रही कि ऐसा सुंदर प्रवचन कभी सुनने को नहीं मिला। पंडितजी के आने से समाज में जो सोनगढ़ एवं तत्त्व संबंधी गलत धारणाएँ थी, वे मिट गईं तथा स्वामीजी के प्रति श्रद्धा जागृत हुई। तारीख १७-९-६८ को मुमुक्षु स्वाध्याय मंडल की स्थापना हो गई है, जो अब सुचारु रूप से चल रही है। धार्मिक शिक्षण का कार्य केसली निवासी श्री कपूरचंदजी द्वारा चल रहा है। **—पन्नालाल जैन**

राघौगढ़—जैन समाज के आमंत्रण पर इंदौर से पंडित फूलचंदजी पांड्या पधारे थे।

आपके द्वारा १० दिन तक तीनों समय प्रवचन के उपरांत धार्मिक शिक्षण-कक्षाओं द्वारा समाज को अपूर्व धर्मलाभ हुआ, आप जैनधर्म के मर्मज्ञ विद्वान हैं, आपके साथ श्री दिनेशकुमारजी भी पधारे थे, जिससे भक्ति में भी बहुत आनंद आता था; अंतिम दिन सोनगढ़ संस्था का तथा पूज्य स्वामीजी का आभार प्रदर्शित किया गया। —बाबूलाल रावत

विदिशा—मुमुक्षु मंडल द्वारा प्रतिदिन नियमित रूप से पूजा, भक्ति, शास्त्र-प्रवचन आदि कार्यक्रम चलते थे। श्री सौ. सुशीला बहिन बड़कुल के उत्साह एवं प्रयत्नस्वरूप महिला मुमुक्षु स्वाध्याय मंडल की स्थापना हुई। व्याख्यान-माला का कार्यक्रम चलने लगा है।

मंत्री—कमला बहिन

महीदपुर (म.प्र.)—पंडित श्री मधुकरजी द्वारा हमेशा १०.०० घंटे का कार्यक्रम चलता रहा। समाज में धर्मपर्व का भारी आकर्षण होने से १० दिन तक सर्व जैनबंधु दुकानें बंद रखते थे। जैन-जैनेतर समाज ने बहुत प्रेम के साथ नियमित लाभ लिया। पूज्य स्वामीजी का परमोपकार मानते हुए श्री मधुरकजी द्वारा बड़ा प्रभावक कार्यक्रम दिये जाने का विस्तृत पत्र आया है।

मलकापुर (महा.)—पंडित श्री चिमनलालजी सोनगढ़ से पधारे थे। जैनधर्म की महिमा उत्पादक कार्यक्रम लगातार बीस दिन तक बड़ी शांतिपूर्वक चलता रहा। समाज ने भी भारी प्रेम दर्शाया। श्वेताम्बर भाई-बहिन भी लाभ लेते थे।

नीमच छावनी (म.प्र.)—श्री प्रकाशचंदजी पांड्या इंदौर को धर्म-प्रवचन हेतु बुलाया गया था। तत्त्वार्थसूत्र, दशलक्षण धर्म तथा अनेक तात्त्विक विषयों पर करीब ४-४ घंटे तक आप बहुत ही मार्मिक प्रवचन करके वस्तुस्वयप को तरह-तरह सरलतापूर्वक समझाते थे। गाँव छोटा होने पर भी हमेशा करीब २०० जैनबंधु लाभ लेते थे; शंका-समाधान भी होता था। आप यहाँ से जावद जो नीमच से १२ मील दूर है, वहाँ अति प्राचीन जिनमदिर के दर्शनार्थ गये थे, पश्चात् नारायणगढ़ तथा मलारगढ़ भी गये थे। ऐसा जिनवाणी के परम पवित्र रहस्ययुक्त प्रवचन पहले कभी नहीं सुना था। आपके प्रवचनों से श्रोताओं को महान लाभ हुआ। —सुगनचंद बड़जात्या

नातेपुते (सोलापुर)—पर्वराज बड़े ही उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ। समाज के आमंत्रण पर श्री पंडित ब्रह्मचारी दीपचंदजी गोरे यहाँ पधारे। आपके द्वारा विशेष धर्मप्रभावना

हुई। समयसार, मोक्षमार्गप्रकाशक आदि पर भावपूर्ण विवेचन करते थे; समयसार ग्रंथराज में से मुख्य-मुख्य गाथाओं का सारांश अच्छी तरह से सुनाया। ब्रह्मचारीजी की प्रेरणा से यहाँ स्वाध्याय-मंडल की स्थापना हुई और उसका उद्घाटन पूज्य माताजी के हाथ से किया गया। जैन तीर्थयात्राओं की फिल्म भी दो दिन तक दिखाई, साथ ही टेप रिकार्डिंग द्वारा पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों का कार्यक्रम होने से विशेष प्रभावना हुई। सभा में हमेशा श्री १०८ बुद्धिसागरजी महाराज तथा १०५ विद्यामती माताजी उपस्थित रहते थे। अंतिम दिन विशालरूप में सत्कार-समारोह किया गया। जिसमें पूज्य स्वामीजी का, सोनगढ़ संस्था के आद्यप्रणेता का, प्रमुख श्री नवनीतभाई तथा संचालकों का उपकार एवं आभार प्रगट किया गया; ब्रह्मचारी दीपचंदजी को प्रशस्ति-पत्र अर्पण किया गया।

— गांधी प्रेमचंद नेमचंद सेक्रेटरी तथा हीराचंद खुशालचंद गांधी

बालचंदनगर (महा.)—तारीख १५-९-६८ को यहाँ के समाज ने ब्रह्मचारी श्री दीपंचदजी को नातेपुते से बुलाया और सारे समाज ने बड़ी अच्छी तरह लाभ लिया। श्रोताओं की संख्या प्रतिदिन बढ़ती गई। ३५० तक उपस्थिति रही। उच्चशिक्षा प्राप्त अग्रणी तथा अधिकारीगण ने भी ७ दिन तक जिनवर कथित और श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रकाशित ज्ञान का लाभ लिया। नित्य स्वाध्याय प्रारंभ करने का जैनों ने निर्णय किया। जगह-जगह से आमंत्रण मिलने के कारण यहाँ से बड़गाँव, लासुर्णी, बारामती, मोडलींब, फलटन आदि स्थलों पर जाने का कार्यक्रम हैं। बालचंदनगर में एक दिन धार्मिक तीर्थयात्रा की फिल्म का कार्यक्रम था, पूज्य स्वामीजी द्वारा वीतराग धर्म की प्रभावना देखकर सभी प्रसन्न हुए। यहाँ पुरुष और महिलाओं के दो स्वाध्याय मंडलों की स्थापना श्री अभयकुमार शास्त्री के शुभहस्त से हुई है। पूज्य स्वामीजी का तथा सोनगढ़ संस्था का यहाँ के समाज ने बहुत उपकार प्रगट किया।

कलकत्ता—जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान श्री पंडित फूलचंदजी सिद्धांत शास्त्री के पधारने से अच्छी धर्मप्रभावना हुई। आपके प्रवचनों का लाभ लेने के लिये लोग बड़ी संख्या में नियमितरूप से आते थे। सभी कार्यक्रम सोल्लास सम्पन्न हुए।

बम्बई—इस बार पर्यूषण पर्व में पंडित हुकमचंदजी शास्त्री एम.ए.—जो कि एक अच्छे वक्ता हैं, जयपुर से पधारे थे। उनका प्रवचन प्रतिदिन दो बार एक-एक घंटे तक होता था। शेष सभी कार्यक्रम प्रतिवर्ष की भाँति उत्साहपूर्वक सम्पन्न हुए।

अहमदाबाद—भावनगर से श्री शशिभाई को आमंत्रित किया गया था। उनके आध्यात्मिक प्रवचनों एवं शंका-समाधान का कार्यक्रम नियमित चलता था। सभी कार्यक्रमों में समाज ने अत्यन्त उत्साहपूर्वक भाग लिया।

भिण्ड (म.प्र.) में विशेष धर्मप्रभावना

सोनगढ़ दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के प्रचार विभाग का तथा परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी का हम महान उपकार मानते हैं कि—ब्रह्मचारी हेमराजी सा. ने दो महीने तक हमारे यहाँ रहकर सदुपदेश तथा जैन शिक्षण कक्षा द्वारा जैनशासन की महती प्रभावना की है। समाज ने ब्रह्मचारीजी की शैली को हृदय से पसंद किया और बड़ी संख्या में उपस्थित रहकर लाभ लिया। प्रतिदिन चार घंटे के कार्यक्रम में धर्म-जिज्ञासु नर-नारी बालक-बालिकाएँ लाभ ले रहे हैं; हम सभी प्रार्थना करते हैं कि हमारे समीप के नगरों में भी विद्वानों को भेजते रहें। ब्रह्मचारीजी द्वारा 'मौ' जैन समाज को भी लाभ मिलने की संभावना है। **—धन्नालाल जैन सराफ**

मलाड (बम्बई) में—

भव्य जिनालय निर्माण हेतु शिलान्यास-विधि

कार्तिक सुदी ६ तारीख २६-१०-६८ के शुभ दिन भगवान श्री ऋषभदेवस्वामी के दिगम्बर जिनमंदिर का शिलान्यास आटकोट (हाल बम्बई) निवासी श्री बलुभाई चुनीलाल शाह के शुभहस्त से हुआ। उपनगरों तथा बम्बई के चार हजार से अधिक साधर्मीजनों ने बड़े उत्साहपूर्वक भाग लिया था। ५७०००, का चंदा हुआ। सभी का प्रेममय धर्मोत्साह अद्वितीय था, इस अवसर पर जिनेश्वर भगवान की रथयात्रा मलाड स्टेशन (डब्ल्यू.आर.) से निकाली गई थी, जिनमंदिर का स्थान दफतरी रोड, देना बैंक के सामने हैं, वहाँ जाकर श्री जिनेन्द्र अभिषेक-पूजा शिलान्यासादि विधि सम्पन्न की गई थी। **—धीरजलाल भाईलाल भाई प्रमुख**

चिमनलाल ठाकरशी मोदी तथा मुकुंदराय मणिलाल खारा सेक्रेटरी

पंडित बनारसीदासजी कृत—'समयसार-नाटक'

एवं

पंडित टोडरमलजी कृत—'मोक्षमार्गप्रकाशक' (द्वितीयावृत्ति)

को

सुंदर ढंग से प्रकाशित करने का निर्णय किया गया है। जो सज्जन १.२५ (सवा रुपया) प्रति पुस्तक के हिसाब से अग्रिम भेजकर अपना आर्डर लिखवा देंगे उन्हीं को पुस्तकें भेजी जा सकेंगी। अत: निवेदन है कि—मुद्रणकार्य प्रारंभ होने से पूर्व ही अपना आर्डर एवं अग्रिम राशि भिजवा दें। पुस्तकें लागत मूल्य में या उससे भी कम में दी जायेंगी। यदि विभिन्न नगरों के मुमुक्षु-मंडल एकसाथ अपने आर्डर भिजवायें तो व्यवस्था में सुविधा रहेगी।

पता—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका

(छठवीं आवृत्ति)

अब तक २४००० पुस्तकें छपकर बिक चुकी हैं, समाज में तत्त्व जिज्ञासा का यह माप है। शास्त्राधार सहित संक्षेप में प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये यह उत्तम मार्गदर्शक प्रवेशिका है। जैन-जैनेतर सभी जिज्ञासुओं में नि:संकोच बांटने योग्य है। अंग्रेजी भाषा में भी अनुवाद कराने योग्य है। जिसमें अत्यन्त स्पष्ट सुगम शैली से मूलभूत अति आवश्यक विषयों का ज्ञान कराया गया है। बढ़िया कागज, छपाई, पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य-सिर्फ २५ पैसे, पोस्टेज आदि अलग।

पता—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विपत्ति-काल में क्या करना ?

प्रश्न—कोई महान विपत्ति आ पड़े तो क्या करना ?

उत्तर—विपत्ति के समय धर्म का और धर्मात्मा के जीवन का विशेषरूप से स्मरण करना... धर्मात्मा कैसी उत्तम आराधना करते हैं, उसे लक्ष्य में लेकर उसका उत्साह बढ़ाना।

चाहे जैसी विपत्ति में आत्मस्वभाव को नहीं भूलना।

चाहे जैसी विपत्ति में धर्म का पालन करना एवं संयम की रक्षा करना।

विपत्ति सदा रहनेवाली नहीं, क्षण में चली जानेवाली है।

विपत्ति से डरने से वह चली नहीं जाती किंतु बढ़ती है।

विपत्ति के समय साहस एवं धैर्यपूर्वक उपाय करने से वह दूर हो जाती है।

धर्म ही संकट समय का सच्चा साथी है।

विपत्ति के दुःख की अपेक्षा संयम के घात का या आर्त्तध्यान का दुःख अधिक है, इसलिए हे जीव ! विपत्ति से डरकर तू अपने धर्म को मत छोड़... आर्त्तध्यान मत कर। दृढ़ता से स्वभावचिंतन में तथा देव-गुरु-धर्म की सेवा में अपने चित्त को लगा।

वनवास के समय धर्म का स्मरण करके सीताजी संदेश कहलाती हैं कि— हे सारथी ! श्री रामचंद्रजी से कहना कि लोकनिंदा के भय से मुझे तो छोड़ दिया, परंतु जिनधर्म को कभी नहीं छोड़ना।

विश्वतत्त्वों का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान, एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१	समयसार	(प्रेस में)
२	प्रवचनसार	४.००
३	समयसार कलश-टीका	२.७५
४	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
५	नियमसार	४.००
६	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००
७	मुक्ति का मार्ग	०.५०
८	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५
	'' '' '' भाग-२	१.००
	'' '' '' भाग-३	०.५०
९	चिद्विलास	१.५०
१०	जैन बालपोथी	०.२५
११	समयसार पद्यानुवाद	०.२५
१२	द्रव्यसंग्रह	०.८५
१३	छहढाला (सचित्र)	१.००
१४	अध्यात्म-संदेश	१.५०
१५	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
१६	धर्म के संबंध में अनेक भूलें	बिना मूल्य
१७	अष्ट-प्रवचन	१.५०
१८	मोक्षमार्गप्रकाशक (ढूंढारी भाषा में) (सस्ती ग्रंथमाला दिल्ली)	२.२५
१९	टोडरमलजी स्मारिका	१.००
२०	अपूर्व अवसर-प्रवचन	१.५०
२१	बालबोध पाठमाला	०.५०
२२	वीतरागविज्ञान पाठमाला	०.६५
२३	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०.२५
२४	सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक)	०.५०
२५	मंगल तीर्थयात्रा (गुजराती-सचित्र)	६.००

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :

मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)